श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला —७

ॐ

श्रीमदमृतचन्द्राचार्यविरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

卐

प्रकाशक

श्री परमश्रुतप्रभावक-मंडल

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम

अगास

श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमालायाम्-७

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमदमृतचन्द्राचार्यविरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

सरल हिन्दी भाषाटीका सहित

प्रकाशक

श्रीपरमश्रुतप्रभावक-मंडल

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम

अगास

प्रकाशक—
श्री रावजीभाई छ. देसाई, ऑनरेरी व्यवस्थापक
श्री परमश्रुतप्रभावक-मंडल (श्रीमद्राजचंद्रजैनशास्त्रमाला)
श्रीमद्राजचंद्र आश्रम, स्टे०-अगास, पो०-बोरिआ
वाया: आणंद (गुजरात)

वीर नि० सं० २५०३] वि० सं० २०३४ [सन १९७७

षष्ठ संस्करण—१५००

मुद्रक:—
भंवरलाल न्यायतीर्थ
श्री वीर प्रेस,
मनिहारों का रास्ता,
जयपुर-३ [राज०]

प्रकाशकीय निवेदन

श्रीमदमृताचार्यविरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्रीमद् राजचंद्र जैन शास्त्रमालाका सातवाँ ग्रंथ–पुष्प है। इस ग्रंथ के अन्तर्गत मूल संस्कृत श्लोक, पं० टोडरमलजी कृत, तथा पं० दौलतरामजी कृत टीका के आधार पर पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित नवीन हिन्दी टीका है। श्रावक मुनि धर्म का हृदयस्पर्शी अद्भुत वर्णन है।

इस संस्था की ओर से परमात्म प्रकाश और योगसार, गोम्मटसार जीव-कांड-कर्म कांड, लब्धिसार और स्याद्वादमंजरी आदि का पुनर्मुद्रण हो रहा है। निरंतर मांग एवम् आवश्यकता समझ कर यह षष्ठ संस्करण जिज्ञासुओं के कर–कमलमें प्रस्तुत करते हुए हृदय आनंद विभोर हो उठता है।

बौद्धिक क्षयोपशम की न्यूनता के कारण अशुद्धियां–त्रुटियां रह जाना संभव है। विज्ञ पाठक शुद्ध करके पढें और क्षमा करें। प्रार्थना है कि पाठक गण यथावश्यक सूचनायें भेजने की कृपा करेंगे।

निवेदक :
रावजी भाई छ. देसाई

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम
अगास, दि० १०/५/७७

इस युगके महान् तत्त्ववेत्ता

श्रीमद् राजचन्द्र

इस युगके महान् पुरुषोंमें श्रीमद् राजचन्द्रजीका नाम बड़े गौरवके साथ लिया जाता है। वे विश्वकी महान् विभूति थे। अद्भुत प्रभावशाली, अपनी नामवरीसे दूर रहने वाले गुप्त महात्मा थे। भारतभूमि ऐसे ही नर-रत्नोंसे वसुन्धरा मानी जाती है।

जिस समय मनुष्यसमाज आत्मधर्मको भूल कर अन्य वस्तुओंमें धर्मकी कल्पना या मान्यता करने लगता है, उस समय उसे किसी सत्य मार्गदर्शककी आवश्यकता पड़ती है। प्रकृति ऐसे पुरुषो को उत्पन्न कर अपनेको धन्य मानती है। श्रीमद्जी उनमें से एक थे। श्रीमद् राजचन्द्रजी का नाम तो प्रायः बहुतोंने सुन रक्खा है, और उसका कारण भी यह है कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी ने अपने साहित्यमें इनका जहां तहां सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। वे स्वयं इनको धर्मके सम्बन्धमें अपना मार्गदर्शक मानते थे। महात्माजी लिखते हैं कि- "मेरे ऊपर तीन पुरुषोंने गहरी छाप डाली है— टालसटाय, रस्किन और राजचद्रभाई। टालसटायने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्रव्यवहारसे; रस्किनने अपनी पुस्तक 'अन्टु धिस लास्ट' से, जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रक्खा है, और राजचन्द्रभाईने अपने गाढ़ परिचयसे। जब मुझे हिन्दू धर्ममें शङ्का उत्पन्न हुई उस समय उसके निवारण करनेमें राजचन्द्रभाईने मुझे बड़ी सहायता पहुंचाई थी। ई० सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रीकामें मैं कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष परिचयमें आया था। अन्य धर्मियोंको क्रिश्चियन बनाना हीं उनका प्रधान व्यवसाय था। उस समय मुझे हिन्दू धर्ममें कुछ अश्रद्धा हो गई थी, फिर भी मैं मध्यस्थ रहा था। हिन्दुस्तानमें जिनके ऊपर मुझे श्रद्धा थी उनसे पत्रव्यवहार किया। उनमें राजचन्द्रभाई मुख्य थे। उनके साथ मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था। उनके प्रति मुझे मान था। इसलिए उनसे जो कुछ मुझे मिल सके उसको प्राप्त करने का विचार था। मेरी उनसे भेंट हुई। उनसे मिलकर मुझे अत्यन्त शान्ति मिली। अपने धर्ममें दृढ़ श्रद्धा हुई। मेरी इस स्थितिके जवाबदार राजचन्द्रभाई हैं। इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिये, इसका पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं।"

महात्माजी आगे और भी लिखते हैं कि-राजचन्द्रभाईके साथ मेरी भेंट जौलाई १८९१ में उस दिन हुई थी जब मैं विलायतसे बम्बई आया था। उस समय मैं रंगूनके प्रख्यात जौहरी प्राण जीवनदास मेहताके घर उतरा था। राजचन्द्रभाई उनके बड़े भाईके जमाई होते थे। प्राणजीवनदास ने राजचन्द्रभाईका परिचय कराया। वे राजचन्द्रभाईको कविराज कहकर पुकारा करते थे। विशेष परिचय देते हुए उन्होंने कहा-ये एक अच्छे कवि हैं और हमारे साथ व्यापार में लगे हुए हैं। इनमें बड़ा ज्ञान है, शतावधानी हैं।

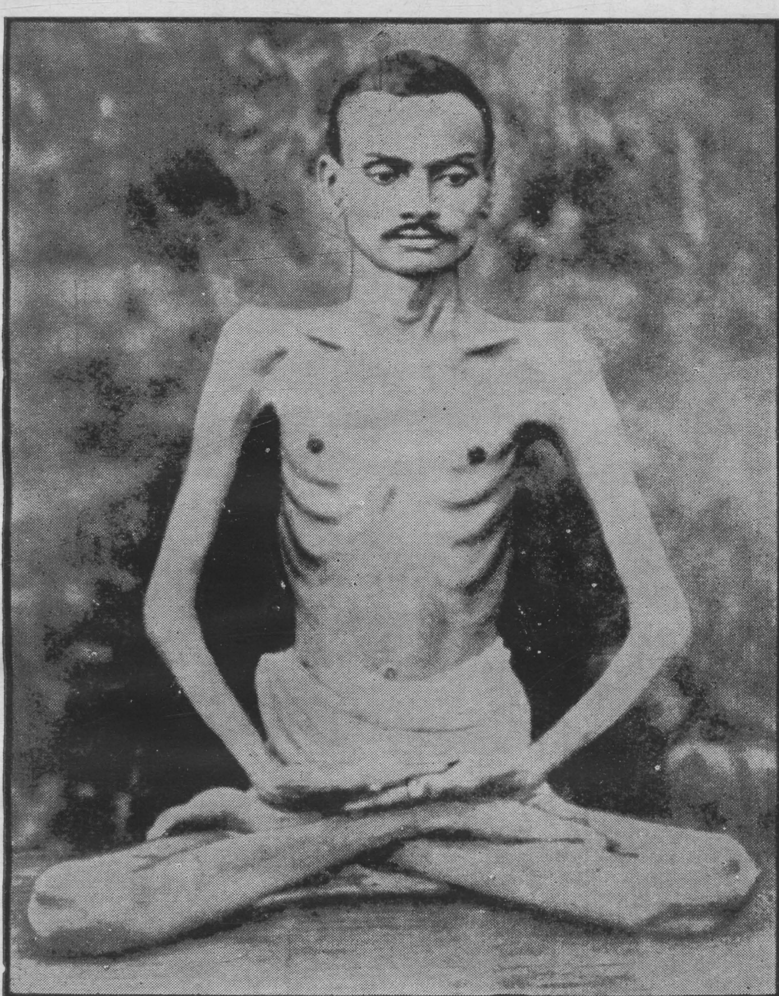

श्रीमद् राजचंद्र

जन्म : ववाणिया
वि. सं. १९२४ कार्तिक पूर्णिमा

देहविलय : राजकोट
वि. सं. १९५७ चैत्र वदी ५

श्रीमद्‌जीका जन्म वि० सं० १९२४ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमाको सौराष्ट्र मोरबी राज्यान्तर्गत ववाणिया गांवमें वणिक जातिके दशाश्रीमाली कुलमें हुआ था। इनके पिताका नाम रवजीभाई पंचाणभाई महेता और माताका नाम देबाबाई था। इनके एक छोटा भाई और ४ बहिन थीं। घरमें इनके जन्मसे बड़ा उत्सव मनाया गया। श्रीमद्‌जीने अपने सम्बन्धमें जो बातें लिखी हैं वे बड़ी रोचक और समझने योग्य हैं। वे लिखते हैं—

"छुटपनकी छोटी समझमें, कौन जाने कहाँसे ये बड़ी बड़ी कल्पनाएं आया करती थीं। सुख की अभिलाषा भी कुछ कम न थी; और सुखमें भी महल, बाग, बगीचे, स्त्री आदिके मनोरथ किये थे, किन्तु मनमें आया करता था कि यह सब क्या है? इस प्रकारके विचारोंका यह फल निकला कि न पुनर्जन्म है, और न पाप है, और न पुण्य हैं; सुखसे रहना और संसारका सेवन करना। बस, इसीमें कृतकृत्यता है। इससे दूसरी झंझटोंमें न पड़कर धर्मकी वासना भी निकाल डाली। किसी भी धर्मके लिये थोड़ा बहुत भी मान अथवा श्रद्धाभाव न रहा। किन्तु थोड़ा समय बीतने के बाद इसमें से कुछ और ही होगया। आत्मामें बड़ा भारी परिवर्तन हुआ, कुछ दूसरा ही अनुभव हुआ; और यह अनुभव ऐसा था, जो प्रायः शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता और न जड़वादियोंकी कल्पनामें भी आसकता। वह अनुभव क्रमसे बढ़ा और बढ़कर एक 'तू ही तू ही' का जाप करता है।" एक दूसरे पत्रमें अपने जीवन को विस्तारपूर्वक लिखते हैं कि—"बाईस वर्ष की अल्पवय में मैंने आत्मा सम्बन्धी, मन सम्बन्धी, वचन सम्बन्धी, तन सम्बन्धी और धन सम्बन्धी अनेक रंग देखे हैं। नाना प्रकार की सृष्टिरचना, नाना प्रकार की सांसारिक लहरें और अनन्त दुःख के मूल कारणों का अनेक प्रकार से मुझे अनुभव हुआ है। तत्त्वज्ञानियों ने और समर्थ नास्तिकों ने जैसे जैसे विचार किए हैं उसी तरह के अनेक मैंने इसी अल्पवय में किए हैं। महान् चक्रवर्ती द्वारा किए गए तृष्णापूर्ण विचार और एक निस्पृही आत्मा द्वारा किये गए निस्पृहापूर्ण विचार भी मैंने किए हैं। अमरत्व की सिद्धि और क्षणिकत्व की सिद्धि पर मैंने खूब मनन किया है। अल्पवय में ही मैंने महान् विचार कर डाले हैं, और महान् विचित्रता की प्राप्ति हुई है। यहां तो अपनी समुच्चय वय-चर्या लिखता हूं:—

जन्मसे सात वर्षकी बालवय नितान्त खेल कूदमें ही व्यतीत हुई थी। उस समय मेरी आत्मामें अनेक प्रकारकी विचित्र कल्पनाएं उत्पन्न हुआ करती थीं। खेल कूदमें भी विजयी होने और राजराजेश्वर जैसी ऊंची पदवी प्राप्त करनेकी मेरी परम अभिलाषा रहा करती थी।

स्मृति इतनी अधिक प्रबल थी कि वैसी स्मृति इस कालमें, इस क्षेत्रमें बहुत ही थोड़े मनुष्यों की होगी। मैं पढ़ने में प्रमादी था, बात बनाने में होशियार खिलाडी और बहुत आनन्दी जीव था। जिस समय शिक्षक पाठ पढ़ाता था उसी समय पढ़कर मैं उसका भावार्थ सुना दिया करता था। बस, इतनेसे मुझे छुट्टी मिल जाती थी। मुझमें प्रीति और वात्सल्य बहुत था। मैं सबसे मित्रता चाहता था, सबमें भ्रातृभाव हो तो सुख है, यह विश्वास मेरे मनमें

स्वाभाविक रूप से रहता था। मनुष्यों में किसी भी प्रकार जुदाई का अंकुर देखते ही मेरा अन्तःकरण रो पड़ता था। आठवें वर्ष में मैंने कविता लिखी थी, जो पीछे से जांच करने पर छन्दशास्त्र के नियमानुकूल थी।

उस समय मैंने कई काव्यग्रन्थ लिखे थे, अनेक प्रकार के और भी बहुत से ग्रन्थ देख डाले थे। मैं मनुष्य जातिका अधिक विश्वासु था।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति किया करते थे। उस वयमें मैंने उनके कृष्ण-कीर्तन तथा भिन्न भिन्न अवतार सम्बन्धी चमत्कार सुने थे। जिससे मुझे उन अवतारों में भक्ति के साथ प्रीति भी उत्पन्न होगई थी, और रामदासजी नामके साधु से मैंने बाल-लीला में कंठी भी बंधवाई थी। मैं नित्य ही कृष्ण के दर्शन करने जाता था, अनेक कथाएं सुनता था, जिससे अवतारों के चमत्कारों पर बार बार मुग्ध हो जाया करता था, और उन्हें परमात्मा मानता था। ××× गुजराती भाषा की पाठशालाकी पुस्तकोंमें कितनी ही जगह जगत्कर्ताके सम्बन्धमें उपदेश हैं, वह मुझे दृढ़ हो गया था। इस कारण जैन लोगोंसे घृणा रहा करती थी। कोई पदार्थ बिना बनाए नहीं बन सकता, इसलिये जैन मूर्ख हैं, उन्हें कुछ भी खबर नहीं। उस समय प्रतिमा-पूजनके अश्रद्धालु लोगोंकी क्रिया मुझे वैसे ही दिखाई देती थी, इसलिये उन क्रियाओंकी मलिनताके कारण मैं उनसे बहुत डरता था, अर्थात् वे क्रियायें मुझे पसन्द नहीं थीं।

मेरी जन्म भूमिमें जितने वणिक लोग रहते थे, उन सबकी कुल-श्रद्धा यद्यपि भिन्न भिन्न थी फिर भी वह थोड़ी बहुत प्रतिमा-पूजनके अश्रद्धालुओंके समान थी।

लोग मुझे प्रथमसे ही शक्तिशाली और गांवका नामांकित विद्यार्थी मानते थे, इससे मैं कभी कभी जनमंडलमें बैठकर अपनी चपल शक्ति बतानेका प्रयत्न किया करता था।

वे लोग कंठी बांधनेके कारण बार बार मेरी हास्यपूर्वक टीका करते, तो भी मैं उनसे वाद-विवाद करता और उन्हें समझानेका प्रयत्न करता था।

धीरे-धीरे मुझे जैनोंके प्रतिक्रमण सूत्र इत्यादि ग्रंथ पढ़नेको मिले। उनमें बहुत विनयपूर्वक जगतके समस्त जीवोंसे मैत्रीभाव प्रकट किया है। इससे मेरी उस ओर प्रीति हुई और प्रथममें रही। परिचय बढ़ता गया। स्वच्छ रहनेका और दूसरे आचार विचार मुझे वैष्णवोंके ही प्रिय थे, जगत्कर्ता की भी श्रद्धा थी। इतनेमें कंठी टूट गई, और उसे दुबारा मैंने नहीं बांधी। उस समय बांधने न बांधने का कोई कारण मैंने नहीं ढूंढा था। यह मेरी तेरह वर्ष की वयचर्या है। इसके बाद अपने पिताकी दुकानपर बैठने लगा था। अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छ दरबारके महलमें लिखनेके लिए जब जब बुलाया जाता था तब वहां जाता था। दुकान पर रहते हुए मैंने अनेक प्रकारका आनन्द किया है, अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं राम आदिके चरित्रों पर कविताएं रची हैं, सांसारिक तृष्णाएं की हैं, तो भी किसीको मैंने कम-अधिक भाव नहीं कहा, अथवा किसीको कम-ज्यादा तोलकर नहीं दिया, यह मुझे बराबर याद है।"

इस पर से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे एक अति संस्कारी आत्मा थे। बड़े बड़े विद्वान् भी जिस

ग्रात्माकी ग्रोर लक्ष्य नहीं देते उसी ग्रात्माकी ग्रोर श्रीमद्‌जीका बाल्यकालसे लक्ष्य तीव्र था। ग्रात्मा-के ग्रमरत्व तथा क्षणिकत्वके विचार भी कुछ कम नहीं किये थे। कुलश्रद्धासे जैन धर्मको ग्रंगीकार नहीं किया था, लेकिन ग्रपने ग्रनुभवके बलपर उसे सत्य सिद्ध करके ग्रपनाया था। जैन धर्मके सत्य सिद्धान्तोंको श्रीमद्‌जीने ग्रपने जीवनमें उतारा था ग्रौर मुमुक्षुग्रोंको भी तदनुरूप धर्मका बोध देते थे। वर्तमान युगमें ऐसे महात्माका ग्राविर्भाव समाजके लिये सौभाग्यकी बात है। ये मतमतान्तर में मध्यस्थ थे।

ग्रापको जातिस्मरण ज्ञान था ग्रर्थात् पूर्वभव जानते थे। इस सम्बन्धमें मुमुक्षुभाई पदमशी भाईने एक बार उनसे पूछा था ग्रौर उसका स्पष्टीकरण स्वयं उन्होंने ग्रपने मुखसे किया था। पाठकों की जानकारी के लिये उसे यहां दे देना योग्य समझता हूं।

पदमशीभाईने पूछा—"ग्रापको जातिस्मरण-ज्ञान कब ग्रौर कैसे हुग्रा ?"

श्रीमद्‌जीने उत्तर दिया—"जब मेरी उम्र सात वर्षकी थी, उस समय ववाणियामें ग्रमीचन्द नामके एक सद्‌गृहस्थ रहते थे। वे पूरे लम्बे-चौड़े, सुन्दर ग्रौर गुणवान थे। उनका मेरे ऊपर खूब प्रेम था। एक दिन सर्पके काट खानेसे उनका तुरन्त देहान्त हो गया। ग्रासपासके मनुष्योंके मुखसे इस बातको सुनकर मैं ग्रपने दादाके पास दौड़ा ग्राया। मरण क्या चीज है? इस बातका मैं नहीं जानता था, इसलिये मैंने दादा से कहा—दादा! ग्रमीचन्द मर गए क्या? मेरे दादाने उस समय विचारा कि यह बालक है, मरणकी बात करनेसे डर जायगा, इसलिए उन्होंने—जा भोजन करले, यों कहकर मेरी बातको टालनेका प्रयत्न किया। 'मरण' शब्द उस छोटे जीवनमें मैंने प्रथम बार ही सुना था। मरण क्या वस्तु है, यह जाननेकी मुझे तीव्र ग्राकांक्षा थी। बारम्बार मैं पूर्वोक्त प्रश्न करता रहा। ग्रन्तमें वे बोले—तेरा कहना सत्य है ग्रर्थात् ग्रमीचन्द मर गए हैं। मैंने ग्राश्चर्यपूर्वक पूछा—मरण क्या चीज है! दादाने कहा—शरीरमें से जीव निकल गया है ग्रौर ग्रब वह हलन-चलन ग्रादि कुछ भी क्रिया नहीं कर सकता, खाना-पीना भी नहीं कर सकता। इसलिए ग्रब इसको तालाबके समीपके श्मशानमें जला ग्रायेंगे।

मैं थोड़ी देर इधर-उधर छिपा रहा। बादमें तालाब पर जा पहुंचा। तट पर दो शाखा-वाला एक बबूलका पेड़ था, उसपर चढ़कर मैं सामनेका सब दृश्य देखने लगा। चिता जोरोंसे जल रही थी, बहुतसे ग्रादमी उसको घेरकर बैठे हुए थे। यह सब देखकर मुझे विचार ग्राया—मनुष्यको जलाने में कितनी क्रूरता! यह सब क्या? इत्यादि विचारोंसे ग्रात्म-पट दूर हो गया।"

एक विद्वानने श्रीमद्‌जीको, पूर्व जन्मके सम्बन्धमें ग्रपने विचार प्रकट करने के लिए लिखा था। उसके उत्तरमें उन्होंने जो कुछ लिखा था, वह निम्न प्रकार है—

"कितने ही निर्णयोंसे मैं यह मानता हूं कि, इस कालमें भी कोई कोई महात्मा पहले भवको जातिस्मरण ज्ञानसे जान सकते हैं, ग्रौर यह जानना कल्पित नहीं, परन्तु सम्यक् (यथार्थ) होता

है। उत्कृष्ट संवेग, ज्ञान-योग और सत्संगसे यह ज्ञान प्राप्त होता है, अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जाता है।

जब तक पूर्वभव गम्य न हो तब तक आत्मा भविष्यकाल के लिए शंकितभावसे धर्म-प्रयत्न किया करती है, और ऐसा सशंकित प्रयत्न योग्य सिद्धि नहीं देता।" पुनर्जन्मकी सिद्धिके लिए श्रीमद्जी ने एक विस्तृत पत्र लिखा है जो 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थमें प्रकाशित है। पुनर्जन्म सम्बन्धी इनके विचार बड़े गम्भीर और विशेष प्रकारसे मनन करने योग्य हैं।

१९ वर्ष की अवस्थामें श्रीमद्जीने एक बड़ी सभामें सौ अवधान किए थे, जिसे देखकर उपस्थित जनता दांतों तले उंगली दबाने लगी थी।

अंग्रेजीके प्रसिद्ध पत्र 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' ने अपने ता० २४ जनवरी १८८७ के अंकमें श्रीमद्जीके सम्बन्ध में एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था 'स्मरण शक्ति तथा मानसिक शक्तिके अद्भुत प्रयोग।'

"राजचन्द्र रवजीभाई नामके एक १९ वर्षके युवा हिन्दूकी स्मरणशक्ति तथा मानसिक शक्ति के प्रयोग देखनेके लिये गत शनिवार को संध्या समय फरामजी कावसजी इन्स्टीटयूटमें देशी सज्जनों का एक भव्य सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलनके सभापति डाक्टर पिटर्सन नियुक्त हुए थे। भिन्न भिन्न जातियोंके दर्शकोंमें से दस सज्जनोंकी एक समिति संगठित की गई। इन सज्जनोंने दस भाषाओं के छ छ शब्दोंके दस वाक्य बनाकर लिख लिए और अक्रमसे बारी बारीसे सुना दिए। थोड़े ही समय बाद इस हिन्दू युवकने दर्शकोंके देखते देखते स्मृतिके बलसे उन सब वाक्योंको क्रमपूर्वक सुना दिया। युवककी इस शक्तिको देखकर उपस्थित मंडली बहुत ही प्रसन्न हुई।

इस युवाकी स्पर्शन इन्द्रिय और मन इन्द्रिय अलौकिक थी। इस परीक्षाके लिये अन्य अन्य प्रकारकी कोई बारह जिल्दें बतलाई गई और उन सबके नाम सुना दिए गए। इसके आंखों पर पट्टी बांधकर इसके हाथों पर जो जो पुस्तकें रखी गई, उन्हें हाथोंसे टटोलकर इस युवकने सब पुस्तकोंके नाम बता दिए। डा० पिटर्सनने इस युवककी इस प्रकार आश्चर्यपूर्ण स्मरणशक्ति और मानसिक शक्तिका विकास देखकर बहुत बहुत धन्यवाद दिया और समाजकी ओरसे सुवर्ण-पदक और साक्षात् सरस्वतीकी पदवी प्रदान की गई।

उस समय चार्ल्स सारजंट बम्बई हाईकोर्टके चीफ़ जस्टिस थे। वे श्रीमद्जीकी इस शक्तिसे बहुत ही प्रभावित हुए। सुना जाता है कि सारजंट महोदयने श्रीमद्जीसे इंग्लेंड चलनेका आग्रह किया था, परन्तु वे कीर्तिसे दूर रहनेके कारण चार्ल्स महाशयकी इच्छाके अनुकूल न हुए अर्थात् इंग्लेंड न गए॥"

इसके अतिरिक्त बम्बई समाचार आदि अखबारोंमें भी इनके शतावधानके समाचार प्रकाशित हुए थे। बाद में शतावधान के प्रयोगोंको आत्मचिन्तनमें अन्तरायरूप मानकर उनका करना बन्द कर दिया था। इससे सहजमें ही अनुमान किया जा सकता है कि वे कीर्ति आदिसे कितने निरपेक्ष

थे। उनके जीवनमें पद पद पर सच्ची धार्मिकता प्रत्यक्ष दिखाई देती थी। वे २१ वर्ष की उम्र में व्यापारार्थ ववाणियासे बम्बई आए। वहां सेठ रेवाशंकर जगजीवनदासकी दुकानमें भागीदार रहकर जवाहरातका धन्धा करते रहे। वे व्यापारमें अत्यन्त कुशल थे। ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका इनमें यथार्थ समन्वय देखा जाता था। व्यापार करते हुये भी श्रीमद्‌जीका लक्ष्य आत्माकी ओर अधिक था। इनके ही कारण उस समय मोतियोंके बाजारमें श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवनदासकी पेढ़ी नामी पेढ़ियोंमें एक गिनी जाती थी। स्वयं श्रीमद्‌जीके भागीदार श्रीयुत माणिकलाल घेलाभाईको इनकी व्यवहारकुशलताके लिये अपूर्व बहुमान था। उन्होंने अपने एक वक्तव्यमें कहा था कि "श्रीमद् राजचन्द्रके साथ लगभग १५ वर्ष तक परिचय रहा, और उसमें सात-आठ वर्ष तो मेरा उनके साथ अत्यन्त परिचय रहा था। लोगोंमें अति परिचयसे परस्परका महत्त्व कम हो जाता है, परन्तु मैं कहता हूं कि उनकी दशा ऐसी आत्ममय थी कि उनके प्रति मेरा श्रद्धाभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। व्यापारमें अनेक प्रकारकी कठिनाइयां आती थीं, उनके सामने श्रीमद्‌जी एक अडोल पर्वत के समान टिके रहते थे। मैंने उन्हें जड़ वस्तुओंकी चिन्तासे चिन्तातुर नहीं देखा। वे हमेशा शान्त और गम्भीर रहते थे। किसी विषयमें मतभेद होने पर भी हृदय में वैमनस्य नहीं था। सदैव पूर्वसा व्यवहार करते थे।"

श्रीमद्‌जी व्यापारमें जैसे निष्णात थे उससे अत्यन्त अधिक आत्मतत्त्वमें निष्णात थे। उनकी अन्तरात्मामें भौतिक पदार्थोंकी महत्ता नहीं थी। वे जानते थे-धन पार्थिव शरीरका साधन है, परलोक अनुयायी तथा आत्माको शाश्वत शान्ति प्रदान करनेवाला नहीं है। व्यापार करते हुए भी उनकी अन्तरात्मामें वैराग्य-गंगाका अखण्ड प्रवाह निरन्तर बहता रहता था। मनुष्य-भव के एक एक समयको वे अमूल्य समझते थे। व्यापारसे अवकाश मिलते ही वे कोई अपूर्व आत्मविचारणा में लीन हो जाते थे। निवृत्तिकी पूर्ण भावना होने पर भी पूर्वोदय कुछ ऐसा विचित्र था जिससे उनको बाह्य उपाधि में रहना पड़ा।

श्रीमद्‌जी जवाहरातके साथ साथ मोतियोंका भी व्यापार करते थे। व्यापारी समाज में वे अत्यन्त विश्वासपात्र समझे जाते थे। उस समय एक आरब अपने भाई के साथ रहकर बम्बई में मोतियोंकी आड़तका धन्धा करता था। छोटे भाईके मनमें आया कि आज मैं भी बड़े भाईके समान कुछ व्यापार करूं। परदेशसे आया हुआ माल साथमें लेकर आरब बेचने निकल पड़ा। दलालने श्रीमद्‌जीका परिचय कराया। श्रीमद्‌जीने आरबसे कहा—भाई! सोच समझकर भाव कहना। आरब बोला—जो मैं कह रहा हूं, वही बाजार भाव है, आप माल खरीद करें।

श्रीमद्‌जीने माल ले लिया, तथा उसको एक तरफ रख दिया। वे जानते थे कि इसको नुकसान है और हमें फायदा। परन्तु वे किसीकी भूलका लाभ नहीं लेना चाहते थे। आरब घर पहुंचा, बड़े भाईसे सौदा की बात की। वह घबरा कर बोला—तूने यह क्या किया? इसमें तो अपने को बहुत नुकसान है। अब क्या था, आरब श्रीमद्‌जी के पास आया और सौदा रद्द करनेको कहा। व्यापारिक

नियमानुसार सौदा तय हो चुका था, आरब वापस लेने का अधिकारी नहीं था, फिर भी श्रीमद्‌जीने सौदा रद्द करके मोती उसे वापिस दे दिए। श्रीमद्‌जीको इस सौदे से हजारों का फायदा था, तो भी उन्होंने उसकी अन्तरात्माको दु:खित करना अनुचित समझा और मोती लौटा दिए। कितनी निस्पृहता–लोभवृत्तिका अभाव ! आज के व्यापारियों में यदि सत्यता आजाय तो सरकार को नित्य नये नये नियम बनानेकी जरूरत ही न रहे और मनुष्य-समाज सुखपूर्वक जीवन यापन कर सके।

श्रीमद्‌जीकी दृष्टि बड़ी विशाल थी। आज भी भिन्न भिन्न सम्प्रदायवाले उनके वचनों का रुचि सहित आदरपूर्वक अभ्यास करते हुए देखे जाते हैं। उन्हें बाडाबन्दी पसन्द नहीं थी। वे कहा करते थे कि कुगुरुओं ने लोगोंकी मनुष्यता लूट ली है, विपरीत मार्गमें रुचि उत्पन्न करदी है, सत्य समझाने की अपेक्षा कुगुरु अपनी मान्यता को ही समझाने का विशेष प्रयत्न करते हैं।

श्रीमद्‌जीने धर्मको स्वभावकी सिद्धि करनेवाला कहा है। धर्मोंमें जो भिन्नता देखी जाती है, उसका कारण दृष्टिकी भिन्नता बतलाया है। इसी बातको वे स्वयं दोहे में प्रकट करते हैं:—

भिन्न भिन्न मत देखिए, भेद दृष्टिनो एह
एक तत्त्वना मूलमां, व्याप्या मानो तेह ॥
तेह तत्त्वरुप वृक्षनुं, आत्मधर्म छे मूल।
स्वभावनी सिद्धि करे, धर्म ते ज अनुकूल ॥

अर्थात्–भिन्न भिन्न जो मत देखे जाते हैं, वह सब दृष्टि का भेद है। सब ही मत एक तत्त्व के मूलमें व्याप्त हो रहे हैं। उस तत्त्वरूप वृक्षका मूल है आत्मधर्म, जो कि स्वभावकी सिद्धि करता है, और वही धर्म प्राणियों के अनुकूल है।

श्रीमद्‌जीने इस युगको एक अलौकिक दृष्टि प्रदान की है। वे रूढ़ि या अन्धश्रद्धाके कट्टर विरोधी थे। उन्होंने आडम्बरोंमें धर्म नहीं माना था। वे मत–मतान्तर तथा कदाग्रहादिसे बहुत ही दूर रहते थे। वीतरागताकी ओर ही उनका लक्ष्य था।

पेढ़ी से अवकाश लेकर वे अमुक समय तक खंभात, काविठा, उत्तरसंडा, नडियाद, वसो और ईडरके पर्वत में एकान्तवास किया करते थे। मुमुक्षुओंको आत्मकल्याणका सच्चा मार्ग बताते थे। इनके एक एक पत्रमें कोई अपूर्व रस भरा हुआ है। उन पत्रोंका मर्म समझनेके लिए सन्त-समागम की विशेष आवश्यकता अपेक्षित है। ज्यों ज्यों इनके लेखोंका शान्त और एकाग्र चित्त से मनन किया जाता है, त्यों त्यों आत्मा क्षणभरके लिए एक अपूर्व आनन्दका अनुभव करता है। 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थके पत्रोंमें उनका पारमार्थिक जीवन जहां तहां दृष्टिगोचर होता है।

श्रीमद्‌जीकी भारत में अच्छी प्रसिद्धि हुई। मुमुक्षुओंने उन्हें अपना मार्ग-दर्शक माना। बम्बई रहकर भी वे पत्रों द्वारा मुमुक्षुओंकी शंकाओंका समाधान करते रहते थे। प्रात: स्मरणीय श्री लघराज स्वामी इनके शिष्यों में मुख्य थे। श्रीमद्‌जी द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान का संसार में प्रचार

हो तथा अनादिसे परिभ्रमण करनेवाले जीवोंको मोक्षमार्ग मिले, इस उद्देश्यसे स्वामीजीके उपदेशसे श्रीमद्‌जीके उपासकों ने गुजरातमें अगास स्टेशन के पास 'श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम' की स्थापना की थी, जो आज भी उन्हींकी भावनानुसार चलता है। इसके सिवाय खंभात, वडवा, नरोडा, धामण, आहोर, ववाणिया, काविठा, भादरण, ईडर, उत्तरसंडा, नार आदि स्थलों में इनके नाम से आश्रम तथा मन्दिर स्थापित हुए हैं। श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास के अनुसार ही उनमें प्रवृत्ति चल रही है—अर्थात् श्रीमद्‌जीके तत्त्वज्ञानकी प्रधानता है।

श्रीमद् एक उच्चकोटि के असाधारण लेखक और वक्ता थे। उन्होंने १६ वर्ष और ५ मास की उम्रमें ३ दिन में १०८ पाठवाली 'मोक्षमाला' बनाई थी। आज तो इतनी आयुमें शुद्ध लिखना भी नहीं आता, जब कि श्रीमद्‌जीने एक अपूर्व पुस्तक लिख डाली। पूर्व भव का अभ्यास ही इसमें कारण था। इससे पहले पुष्पमाला, भावना बोध आदि पुस्तकें लिखी थीं। श्रीमद्‌जी मोक्षमाला के सम्बन्ध में लिखते हैं कि—"इस (मोक्षमाला) में मैंने जैन धर्मके समझानेका प्रयत्न किया है; जिनोक्त मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं लिखा है। वीतराग मार्ग में आबाल-वृद्ध की रुचि हो, उसके स्वरूप को समझें तथा उसका बीज हृदयमें स्थिर हो, इस कारण इसकी बालावबोधरूप रचना की है।"

इनकी दूसरी कृति आत्म-सिद्धि है, जिसको श्रीमद्‌जीने १।। घंटे में नडियाद में बनाया था। १४२ दोहोंमें सम्यग्दर्शनके कारणभूत छह पदों का बहुत ही सुन्दर पक्षपात रहित वर्णन किया है। यह कृति नित्य स्वाध्याय की वस्तु है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के पंचास्तिकायकी मूल गाथाओं का भी इन्होंने अक्षरशः गुजराती में अनुवाद किया है, जो 'श्रीमद्‌राजचन्द्र' ग्रन्थ में छप चुका है।

श्रीमद्‌जी ने आनन्दघन चौबीसीका अर्थ लिखना प्रारम्भ किया था और उसमें, प्रथमादि दो स्तवनों का अर्थ भी किया था; पर न जाने क्यों अपूर्ण रह गया है। संस्कृत तथा प्राकृत भाषापर आपका पूरा अधिकार था। सूत्रोंका यथार्थ अर्थ समझानेमें आप बड़े निपुण थे।

आत्मानुभव-प्रिय होनेसे श्रीमद्‌जीने शरीरकी कोई चाह नहीं रखी। इससे पौद्‌गलिक शरीर अस्वस्थ हुआ। दिन-प्रतिदिन उसमें कृशता आने लगी। ऐसे ही अवसर पर आपसे किसीने पूछा-'आपका शरीर कृश क्यों होता जाता है?' श्रीमद्‌जीने उत्तर दिया 'हमारे दो बगीचे हैं, शरीर और आत्मा। हमारा पानी आत्मा रूपी बगीचे में जाता है, इससे शरीर रूपी बगीचा सूख रहा है।' देहके अनेक प्रकारके उपचार किए गए। वे बढ़वाण, धर्मपुर आदि स्थानों में रहे, किन्तु सब उपचार निष्फल गए। कालने महापुरुषके जीवनको रखना उचित न समझा। अनित्य वस्तु का सम्बन्ध भी कहां तक रह सकता है? जहां सम्बन्ध वहां वियोग भी अवश्य है। देहत्याग के पहले दिन शामको श्रीमद्‌जीने श्री रेवाशंकर आदि मुमुक्षुओं से कहा-'तुम लोग निश्चिन्त रहना। यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गति को प्राप्त होगा। तुम शान्त और समाधिपूर्वक

रहना। मैं कुछ कहना चाहता था, परन्तु अब समय नहीं है। तुम पुरुषार्थ करते रहना' प्रभातमें श्रीमद्जीने अपने लघु भ्राता मनसुखभाई से कहा—'भाई का समाधिमरण है। मैं अपने आत्मस्वरूप में लीन होता हूं।' फिर वे न बोले। इस प्रकार श्रीमद्जीने वि० सं० १९५७ मिती चैत्र वदी ५ (गुजराती) मंगलवारको दोपहरके २ बजे राजकोटमें इस नश्वर शरीरका त्याग किया।

इनके देहान्तके समाचारसे मुमुक्षुओंमें अत्यन्त शोकके बादल छा गये। अनेक समाचार पत्रोंने भी इनके लिये शोक प्रदर्शित किया था।

श्रीमद्जीका पार्थिव शरीर आज हमारी आंखों के सामने नहीं है, किन्तु उनका सद्उपदेश, जब तक लोकमें सूर्य-चन्द्र हैं तब तक स्थिर रहेगा तथा मुमुक्षुओंको आत्म-ज्ञानमें एक महान सहायक रूप होगा।

श्रीमद्जीने परम सत् श्रुत के प्रचारार्थ एक सुन्दर योजना तैयार की थी। जिससे मनुष्य-समाजमें परमार्थ मार्ग प्रकाशित हो। इनकी विद्यमानतामें वह योजना सफल हुई और तदनुसार परमश्रुत प्रभावक मंडलकी स्थापना हुई। इस मंडलकी ओरसे दोनों सम्प्रदायोंके अनेक सद्ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। इन ग्रन्थोंके मनन अध्ययनसे समाजमें अच्छी जागृति आई। गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छमें आज घर घर सद्-ग्रन्थोंका जो अभ्यास चालू है वह इसी संस्थाका ही प्रताप है। 'रायचंद्र अने ग्रन्थमाला' मंडल की अधीनता में काम करती थी। राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी इस संस्थाके ट्रस्टी और भाई रेवाशकर जगजीवनदासजी मुख्य कार्यकर्ता थे। भाई रेवाशंकरजी के देहोत्सर्ग के बाद संस्था में कुछ शिथिलता आगई; परन्तु अब उस संस्था का काम श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगासके ट्रस्टियोंने संभाल लिया है और सुचारु रूपसे पूर्वानुसार सभी कार्य चल रहे हैं।

इस आश्रमकी ओरसे श्रीमद्जी का सभी साहित्य सुपाठ्य रूपसे प्रकाशित हुआ है।

'श्रीमद् राजचन्द्र' एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमें उनके आध्यामित्क पत्र तथा लेखोंका अच्छा सग्रह है।

श्रीमद्जीके विषयमें विशेष जानने की इच्छा वालोंको, इस आश्रम से प्रकाशित 'श्रीमद राजचन्द्र जीवनकला' अवलोकनीय है।

—गुणभद्र जैन.

आचार्य अमृतचन्द्र

आध्यात्मिक विद्वानोंमें भगवत्कुन्दकुन्दके बाद यदि किसीका नाम लिया जा सकता है तो वे आचार्य अमृतचन्द्र हैं। दुःख की बात है कि इतने महान् आचार्य के विषय में इसके सिवाय हम कुछ भी नहीं जानते कि उनके बनाये हुए अमुक अमुक ग्रन्थ हैं। उनकी गुरु-शिष्यपरम्परासे और समयादि से हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अपने दो ग्रन्थों के अन्त में वे कहते हैं कि तरह तरह के वर्णों से पद बन गये, पदों से वाक्य बन गये और वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बन गया। मैंने कुछ भी नहीं किया[1]। अन्य ग्रन्थों में भी उन्होंने अपना यही निर्लिप्त भाव प्रकट किया है। इससे अधिक परिचय देने की उन्होंने आवश्यकता ही नहीं समझी।

उनके बनाये हुए पांच ग्रन्थ उपलब्ध हैं और वे पांचों ही संस्कृतमें हैं—१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २ तत्त्वार्थसार, ३ समयसार-टीका, ४ प्रवचनसार-टीका और ५ पंचास्तिकाय-टीका। पहला श्रावकाचार है जो उपलब्ध तमाम श्रावकाचारों से निराला और अपने ढंग का अद्वितीय है। दूसरा उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्र का अतिशय स्पष्ट, सुसम्बद्ध और कुछ पल्लवित पद्यानुवाद है। शेष तीन भगवत्कुन्दकुन्दके प्रसिद्ध प्राकृत ग्रन्थों की संस्कृत टीकायें हैं, जिनकी रचनाशैली बहुत ही प्रौढ़ और मर्मस्पर्शिनी है।

पं० आशाधरने अपने अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिकाटीका में अमृतचन्द्रको दो स्थानोंमें 'ठक्कुर' नामसे अभिहित किया है—

१ एतदनुसारेणैव ठक्कुरोपीदमपाठीत्—लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे। पृ. १६०

२ एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकायां दृष्टव्यम्।–पृ० ५८८

ठक्कुर और ठाकुर एकार्थवाची हैं। अक्सर राजघरानेके लोग इस पदका व्यवहार करते थे। सो यह उनकी गृहस्थावस्थाके कुलका उपपद जान पड़ता है।

अनगारधर्मामृत-टीका वि० सं० १३०० में समाप्त हुई थी। अतएव उक्त समयसे पहलेके तो वे निश्चयसे हैं और प्रवचनसारकी तत्त्वदीपिका टीकामें 'जावदिया वयणवहा' और 'परसमयाणं वयणं' आदि की गाथायें गोम्मटसार (कर्मकाण्ड ८९४–९५) से उद्धृत की गई जान पड़ती हैं। चूंकि गोम्मटसारके कर्त्ता नेमिचन्द्र सि०च० का समय विक्रमकी ग्यारहवीं सदीका पूर्वार्ध है इसलिए अमृतचंद्र उनसे बादके हैं। अर्थात् वे वि० १३०० से पहले और ग्यारहवीं सदीके पूर्वार्धके बाद किसी समय हुए हैं।

---

१. वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैःकृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥—पु० सि०

आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ज्ञानार्णव (पृ० १७७) में अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपायका 'मिथ्यात्ववेदरागा' आदि पद्य 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत किया है, इसलिए अमृतचन्द्र शुभचन्द्र से भी पहलेके हैं और पद्मप्रभ मलधारिदेवने शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवका एक श्लोक उद्धृत किया है, इसलिए शुभचन्द्र पद्मप्रभसे पहलेके हैं[२]।

लेखान्तरमें हमने पद्मप्रभका समय विक्रमकी बारहवीं सदीका अन्त और तेरहवीं सदीका प्रारंभ बतलाया है, इसलिए अमृतचन्द्रका समय विक्रमकी बारहवीं सदीके बाद नहीं माना जासकता।

डा० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें तात्पर्यवृत्तिके कर्त्ता जयसेनका समय ईसाकी बारहवीं सदीका उत्तरार्ध, अर्थात् विक्रमकी तेरहवीं सदीका प्रारंभ अनुमान किया है, और जयसेन अमृतचन्द्रकी तत्त्वदीपिकासे यथेष्ट परिचित जान पडते हैं। इससे भी अमृतचन्द्रका समय उनसे पहले, विक्रमकी बारहवीं सदी ठीक जान पड़ता है।

क्या अमृतचन्द्रका कोई प्राकृत ग्रन्थ है ?

प्रवचनसारकी तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनाचार्यने नीचे लिखी दो गाथाओंकी टीका की है, परन्तु अमृतचन्द्रसूरिने अपनी वृत्तिमें नहीं की। इससे मालूम होता है कि वे इन्हें मूलग्रन्थकी नहीं मानते थे।

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मांसपेसीसु।
संततियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं ॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसी मंसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं ॥

राजवार्तिकमें सूत्र २२ की टीका (पृ० २८४ में नीचे लिखी गाथा 'उक्तं च' रूपमें दी गई है—

रागादीणमणुप्पा अहिंसत्तेति देसिदं समये।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणे हि णिद्दिट्ठा ॥

इसी तरह अनगारधर्मामृत टीका (पृ० ५४२) में नीचे लिखी गाथा 'उक्तं च' रूपमें दी हुई है—

अप्पा कुणदि सहावं तत्थ गदा पुग्गला सहावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णुण्णागाढमोगाढा ॥

हम देखते हैं कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें इन चारों गाथाओंका प्रायः शब्दशः अनुवाद इस प्रकार मौजूद है—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ ॥

---

२. देखो नियमसारटीकाका पृ० ७२ और ज्ञानार्णवका पृ० ४३१

आमां वा पक्कां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ।। ६८ ।।
अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।। ४४ ।।
जीवकृतं परिणाम निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ।। १२ ।।

इन अनुवादित पद्योंको देखकर पहले हमने यह अनुमान किया था कि अमृतचन्द्रका पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय जैसा ही कोई प्राकृत ग्रन्थ भी होगा और अपने ही ग्रन्थका उन्होंने संस्कृत अनुवाद कर लिया होगा। परन्तु अब ऐसा मालूम होता है कि उक्त प्राकृत पद्य किसी प्राचीन ग्रन्थके हैं और उनकी ही छाया पुरुषार्थसिद्धयुपायमें ले ली गई है। क्योंकि राजवार्तिकमें उद्धृत पूर्वोक्त पद्यको अमृतचन्द्रका माननेसे वे अकलंकदेवके भी पूर्ववर्ती सिद्ध होंगे; और उनको इतना प्राचीन माननेके लिए और कोई प्रमाण नहीं हैं। तत्त्वार्थसारके 'मोक्षतत्त्व' अध्यायका 'दग्धे बीजे यथात्यन्तं' आदि सातवां श्लोक और २० से लेकर ५४ तकके श्लोक अकलंकदेवके राजवार्तिकसे लिये गये जान पड़ते हैं। इसके सिवाय ये सब श्लोक तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें भी दो चार शब्दोंके हेर-फेरके साथ मिलते हैं। अतएव कमसे कम ये स्वयं अमृतचन्दके तो नहीं जान पड़ते

श्वेताम्बराचार्य मेघविजयजीने अपने युक्तिप्रबोधमें अमृतचन्द्रके नामसे कई पद्य उद्धृत किये हैं। उनमें भी नीचे लिख दो पद्य प्राकृतके हैं। अतएव इनसे भी हमने अनुमान किया था कि अमृतचंद्र का कोई प्राकृत ग्रन्थ होगा—

१—"यदुवाच अमृतचन्द्र :—
सव्वे भावा जम्हा पच्चक्खाई परित्ति नाऊण।
तम्हा पच्चक्खाणं जाण णियमा मुणेयव्वं।।"

—सातवीं गाथाकी टीका

२—"श्रावकाचारे अमृतचन्द्रोप्याह—
संघो कोवि न तारइ कट्ठो मूलो तहेव निप्पिच्छो।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा दु झायव्वो।।"

इनमेंसे पिछली गाथा तो 'ढाढसी गाथा' नामक ग्रन्थकी है, अमृतचन्द्रकी नहीं। इसी तरह पहली गाथा भी अमृतचन्द्रके किसी ग्रन्थमें नहीं मिलती, यह भी किसी प्राचीन ग्रन्थकी जान पड़ती है और इसे भी अमृतचन्द्रकी बतलानेमें मेघविजयजीका कुछ प्रमाद हुआ है।

'ढाढसी गाथा' ३८ गाथाओंका एक छोटा-सा प्रकरण है। बम्बईकी रायल एशियाटिक सोसाइटीकी लाइब्रेरीमें जो हस्तलिखित ग्रन्थोंका संग्रह है, उसमें इसकी एक संस्कृतटीकासहित प्रति (नं० १६१०) भी है। अभी हाल ही हमने बड़ी उत्सुकतासे इस प्रतिको देखा। सोचा कि टीकासे

शायद इसके कर्त्ता आदिके विषयमें कोई नई बात मालूम हो। परन्तु निराश होना पड़ा। उसमें न तो टीकाकर्त्ताने अपना नाम ही दिया है और न मूलके विषयमें ही कुछ लिखा है। अन्तमें इतना ही लिखता है—"इति ढाढसीमुनीनां विरचिता गाथा सम्पूर्णा।" मालूम नहीं, ये ढाढसी मुनि कौन और कब हुए हैं ? ढाढसी नाम भी बड़ा अद्भुत-सा है।

इस ग्रन्थमें काष्ठासंघ, मूलसंघ और निःपिच्छिक (माथुर) संघों का उल्लेख है और इनमें से अन्तिम माथुर संघकी उत्पत्ति देवसेनसूरिके दर्शनसारमें वि० सं० ९५३ के लगभग बतलाई गई है। यदि वह सही है तो यह ग्रन्थ विक्रमकी ग्यारहवीं सदीके पहले का नहीं हो सकता। परन्तु इससे अमृतचन्द्रके समय-निर्णयमें कोई सहायता नहीं मिल सकती। हां, यदि अमृतचन्द्रने अपने किसी ग्रंथमें उक्त 'संघो कोवि' आदि गाथा उद्धृत गाथाको ही मेघविजयजीने उनकी समझ लिया हो, तो फिर इससे भी ढाढसी गाथाके बाद १० वीं शताब्दिका अमृतचन्द्रको मान सकते हैं।

(—जैन साहित्य और इतिहाससे उद्धृत)

अमृतचन्द्रके विषयमें कुछ नया प्रकाश

अभी हालही रल्हणके पुत्र सिंह या सिद्ध नामक कविका 'पज्जुण्णचरिउ (प्रद्युम्नचरित)' नामका अपभ्रंश काव्य प्राप्त हुआ है जो कि बांभणवाड़ा (सिरोहीके पास) निर्मित हुआ था।[1] उस समय वहांका राजा गुहिलवंशी भुल्लण था जो मालवनरेश बल्लालका[2] मांडलिक था और जिसका राज्यकाल विक्रम संवत् १२०० के आस-पास है। इस काव्यमें लिखा है कि एक[3] समय मलधारिदेव

१—इस काव्यका विस्तृत परिचय मेरे स्वर्गीय मित्र मोहनलाल दलीचन्द देसाई बी० ए०, एलएल० बी०, अपने 'कुमारपालना समयनुं एक अपभ्रंश काव्य' शीर्षक गुजराती लेखमें दिया है जो 'श्री आत्मानन्दजन्मशताब्दि स्मारक ग्रन्थ' में प्रकाशित हुआ है।

२—मालवेके परमार राजाओंकी वंशावलीमें 'बल्लाल' का नाम नहीं मिलता। यह किस वंशका था, सो भी पता नहीं। परन्तु 'मालवराज' विशेषण इसके साथ लगा हुआ है। परमार राजा यशोवर्माके बाद इसका मालवे पर अधिकार रहा है। यशोवर्माका अन्तिम दानपत्र वि० सं० ११९२ का लिखा हुआ मिला है। बल्लालको कुमारपाल सोलंकीने हराया था और कुमारपाल वि० सं० १२०० में गद्दीपर बैठे थे।

३—ता मलधारिदेउ मुणिपुंगमु णं पच्चक्खु धम्मु उवसमु दमु। माहउचंदु आसि सुपसिद्धउ, जो खम-दम-जम-णियमसमिद्धउ ॥ तासु सीसु तव-तेय-दिवायरु वय-तव-णियम-सील रयणायरु। तक्क-लहरि-झंकोलिय पर-मउ, वर-वायरण-पवर पसरिय पउ। जासु भुवण दूरंतरु वंकिवि ठिउ पच्छण्णु मयणु आसंकिवि। अमियचंदु णामेण भडारउ, सो विहरंतु पत्तु बुहसारउ, सरि-सर-णंदण—वण संछण्णउ, मढ-विहार-जिण-भव्वण रवण्णउ। बंभणवाडउ णामें पट्टणु, अरिणरणाह-सेण-दलवट्टणु, जो भुंजइ अरिणखयकालहो, रणधोरियहो सुयहो बल्लालहो। जासु भिच्चु दुज्जण-मणसल्लणु, सत्तिउ गुहिलउत्तु जहिं भुल्लणु। तहिं संपत्तु मुणीसरु जावहिं, भव्वुलोउ आणंदिउ तावहिं।

घत्ता—पर-वाइय-वाया-हरुअ, छम्मु, सुयकेवलिजो पवरक्खुधम्मु। सो जयउ महामुणि अमियचंदु, जो भव्वणिवहकइरवह चंदु। मलधारिदेव-पय-पोम-भसलु, जंगम सरसइ सव्वत्थकुसलु।

माधवचन्द्रके शिष्य अमियचंदु (अमृतचन्द्र) विहार करते हुए बांभणवाड़ेमें आये, कविने उनकी अभ्यर्थना की और उन्हींके कहनेसे प्रद्युम्नचरितकी रचना की। अमृतचन्द्रको कविने तपतेजदिवाकर, व्रत-तप-शील-रत्नाकर, तर्कलहरिझंकोलितपरमत वर-व्याकरण-प्रवरप्रसरितपद, जंगम सरस्वती आदि विशेषण दिये हैं। इन विशेषणोंमें यद्यपि ऐसी कोई सूचना नहीं है जिससे हम निश्चयपूर्वक इन अमृतचन्द्रको प्रसिद्ध ग्रन्थकार अमृतचन्द्र कह सकें, अमृतचन्द्रने अपने गुरुका नाम भी कहीं नहीं दिया है, जिससे मलधारि माधवचन्द्रके शिष्य अमृतचन्द्रसे उनकी एकता सिद्ध की जा सके; फिर भी संभावना है कि दोनों एक ही हों और इसलिए यहां इस प्रसंगका उल्लेख कर देना उचित प्रतीत हुआ। ऊपर अमृतचन्द्रके समयका जो अनुमान किया गया है, उससे भी इसमें इतना अधिक अन्तर नहीं है कि उसका समाधान न हो सके। संभव है बांभणवाड़ेमें आनेके समय वे वृद्ध हों और अपने ग्रन्थोंकी रचना वे इससे बहुत पहले कर चुके हों।

जनवरी १९३७

—नाथूराम प्रेमी

चौथी आवृत्ति की भूमिका

इस ग्रन्थकी टीका सन् १९०४ में अबसे लगभग ४९ वर्ष पहले लिखी गई थी। उस समय मैं इस क्षेत्रमें बिलकुल नया था और अपने परिश्रमके सिवाय मेरे पास ज्ञानकी कोई विशेष पूंजी नहीं थी। फिर भी इसे लोगोंने पसन्द किया और अब इसकी यह चौथी आवृत्ति प्रकाशित हो रही है।

मैंने चाहा कई बार कि इसको एक बार अच्छी तरह पढ़ जाऊं और इसमें जो त्रुटियां हैं उनकी पूर्ति कर दूं। परन्तु हर बार प्रकाशक उसे ज्योंका त्यों ही प्रकाशित कराले गये। अब ४३ वर्ष बाद जब इसकी चौथी आवृत्तिको प्रेसमें दे दिया गया, तब भाई कुन्दनलालने इसकी सूचना मुझे दी। परन्तु दुर्भाग्यसे इसी समय मैं बीमार पड़ गया और इसलिए सिर्फ इतना ही कर सका कि प्रत्येक फार्मका प्रूफ एक बार देख गया और साधारण-से संशोधन कर सका। **पं० बंशीधरजी शास्त्री (शोलापुर)** से भी पूरे ग्रन्थके प्रूफ दिखा लिये गये हैं, इस खयालसे कि कहीं कोई व्याकरण और सिद्धान्तसम्बन्धी अशुद्धि न रह जावे।

जैसा कि पहले संस्करणकी प्रस्तावनामें लिखा गया है मैंने यह टीका मुख्यतः दो टीकाओंके आधारसे लिखी है—

१ पंडित प्रवर टोडरमलकी टीका जो कि अपूर्ण है और जिसे पं० दौलतरामजीने वि० सं० १८२७ में पूरा किया था।

२ शाहगंज (आगरा) के पं० भूधर मिश्रकृत टीका जो वि० सं० १८७१ में समाप्त की गई है।

स्व० बाबू सूरजभानजी वकील द्वारा प्रकाशित उनकी संक्षिप्त हिन्दी टीका भी उस समय मेरे सामने थी।

इधर पं० टोडरमलजीके जीवनके सम्बन्धमें जयपुरके पं० चैनसुखदासजीने 'वीरवाणी' में (३ फरवरी १९४८) जो बातें प्रकट की हैं उनका सारांश यह है—

पं० टोडरमलजी विक्रमकी १९ वीं शताब्दिके असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् थे। अपनी २८ वर्षकी अल्पायुमें उन्होंने जैन-साहित्यकी अतुलनीय सेवा की थी। **मोक्षमार्गप्रकाश** उनकी मौलिक अमर कृति है, यह यद्यपि उनकी असभायिक मृत्युके कारण अधूरा ही रह गया है, फिर भी जितना है उतना ही अपूर्व है। वे विद्वान्, धार्मिक क्रान्तिकर्ता, साहित्यसर्जक और असाधारण व्याख्याता थे। उनका जन्म वि० सं० १७९७ के लगभग हुआ था। ११–१२ वर्षकी अवस्थातक विद्याभ्यास करते रहे। १३–१४ वर्षके होते होते स्वमत-परमतके अनेक ग्रन्थोंका अभ्यास कर लिया। संभवतः उसी समय वे जयपुरसे सिंघाणा चले गये और तीन-साढ़े तीन वर्षमें चार विशाल ग्रन्थोंकी भाषाटीकायें लिखीं,

१८११ में जयपुर आ गये। पिताजीकी मृत्यु हो गई और तब गृहस्थीका भार उनपर आ पड़ा। सम्वत् १८१६ में उनके **हरिश्चन्द्र** और १८१८ में **गुमानीराम** नामक पुत्रोंका जन्म हुआ। १८१८ में **गोम्मटसार** आदिकी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीकाका संशोधन कार्य पूर्ण हुआ। मोक्षमार्गप्रकाशका प्रारंभ १८१९ के लगभग हुआ होगा। उनकी **गोम्मटसार, क्षपणासार-लब्धिसार, त्रिलोकसार** और **आत्मानुशासन** इन चार ग्रन्थोंकी भाषाटीकायें प्रसिद्ध हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी टीका अधूरी है। साम्प्रदायिकताके मदसे उन्मत्त षड्यंत्रकारियोंने इस महान् विद्वानकी हत्या कर डाली।

पं० भूधर मिश्र आगराके समीप शाहगंजके निवासी ब्राह्मण थे। आपके गुरुका नाम पं० रंगनाथ था। सं० १८७१ की भादों सुदी १० को अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-टीका पूर्ण की थी। आप बड़े विद्वान् थे, इस टीकामें यशस्तिलकचम्पू, रयणसार, धर्मोपदेशपीयूष श्रावकाचार, प्रबोधसार, योगीन्द्रदेवकृत श्रावकाचार, यत्याचार आदि अनेक ग्रन्थोंके प्रमाण यथावसर दिये हैं। आपका लिखा हुआ 'चरचा-समाधान' नामक ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है।

मूलग्रन्थकर्ता आचार्य अमृतचन्द्रका परिचय मेरे लिखे हुए 'जैन साहित्य और इतिहास' से उद्धृत कर दिया जाता है।

हीराबाग, बम्बई, ता. १-३-५३ —नाथूराम प्रेमी

विषय-सूची

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि—			
भाषाकार पं० टोडरमलजीका मंगलाचरण			१
मूलग्रन्थकर्त्ता अमृतचन्द्रसूरिका ,,			२
उत्थानिका—			४
निश्चयनय व्यवहारनयका स्वरूप—			४
ग्रन्थ प्रारम्भ			८
कर्मोंका कर्त्ता और भोक्ता आत्मा है—			६
जीव परिणमन—			१२
पुरुषार्थसिद्धयुपायका अर्थ—			१३
धर्मोपदेशकी रीति, क्रम-भंग करनेवाला दंडका पात्र			१४
१—श्रावकधर्मव्याख्यान			**१४**
सम्यक्त्वका लक्षण—			१५
सात तत्त्वोंका स्वरूप—			१६
सम्यक्त्वके आठ अंगोंका वर्णन—			१८
२—सम्यग्ज्ञानव्याख्यान—			**२१**
प्रमाण और नयोंका स्वरूप ज्ञानके और उसके भेदोंका वर्णन—			२५
३—सम्यक्चारित्रव्याख्यान			**२६**
,, के भेद और उनका स्वरूप—			२७
हिंसाका स्वरूप—			२८
अहिंसाव्रतका वर्णन—			३१
सत्यव्रत और उनके भेदोंका वर्णन—			४६
अचौर्यव्रत	,,	,,	४७
ब्रह्मचर्य	,,	,,	४६
परिग्रहप्रमाण	,,	,,	५१
रात्रिभोजन त्याग	,,	,,	५६
सप्त शीलव्रत	,,	,,	५८
गुणव्रत	,,	,,	५६
दिग्व्रत	,,	,,	५६
देशव्रत	,,	,,	५६
अनर्थदण्डव्रत	,,	,,	६०
शिक्षाव्रत	,,	,,	६२
सामायिकव्रत	,,	,,	६२
,,		करनेकी विधि—	६२
प्रोषधोपवासव्रत—	,,		६४
भोगोपभोगपरिमाण			६७
अतिथिसंविभागव्रत—			७०
दाताकी नवधा भक्ति—			७०
दाताके सात गुण—			७१
दानके पात्र—			७२
४—सल्लेखनाधर्मव्याख्यान—			**७३**
सल्लेखना-समाधिमरणकी विधि—			७५
सम्यक्त्वके पांच अतीचार—			७६
अहिंसाव्रतके	,,	,,	८०
सत्याणुव्रतके	,,	,,	८०
अचौर्यव्रत	,,	,,	८०
ब्रह्मचर्यव्रत	,,	,,	८१
दिग्व्रत	,,	,,	८२
देशव्रत	,,	,,	८२
अनर्थदण्डव्रत	,,	,,	८२
सामायिकव्रत	,,	,,	८३
उपवासव्रत	,,	,,	८३
भोगोपभोगपरिमाण	,,	,,	८३
अतिथिसंविभागव्रत	,,	,,	८४
सल्लेखनाव्रत	,,	,,	८४

५—सकलचारित्रव्याख्यान—	**८५**
तपके दो भेद-बाह्य और आभ्यन्तर-	८५
षट् आवश्यक-	८६
तीन गुप्ति-	८७
पांच समिति-	८८
दशलक्षण धर्म-	८८
बारह भावनायें-और उनके भेदोंका वर्णन	८९
बाईस परीषह „ „	९२
आत्माका रागसे बन्ध	९५
चार प्रकारके बन्धका स्वरूप-	९९
सम्यक्त्व और चारित्र बन्धके कर्त्ता नहीं किन्तु उदासीन कारण हैं-	१०२
रत्नत्रय ही मोक्षका कारण है-	१०२
जैनीनीति स्याद्वाद-अनेकान्तका स्वरूप-	१०३
ग्रन्थकारकी लघुता-	१०४
परिशिष्ट १-श्लोकानुक्रमणिका	१०४
„ २-उद्धृतकी „	१०९
सूची-	१११

नमः सर्वज्ञाय ।

श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

सरल भाषानुवाद सहित ।

मंगलाचरण[1]

दोहा—परम पुरुष निज अर्थको, साध भये गुणवृन्द ।
आनन्दामृतचन्द्रको, बन्दत हूँ सुखकन्द ।। १ ।।
बानी बिन बैन न बने, बैन बिना बिन नैन ।
नैन बिना बानि न बनै, नवों बानि बिन बैन ।। २ ।।
गुरु उर भावै आप पर, तारक बारक पाप ।
सुरगुर गावैं आप पर, हारक बाच कलाप ।। ३ ।।
मैं नमो नगन जैन जिन, ज्ञान ध्यान धन लीन ।
मैनमान बिन दान धन, एनहीन तन छीन ।। ४ ।।

कवित्त—(मनहरण ३१ वर्ण)

कोऊ नय–निश्चयसे आत्माको शुद्ध मान, भये हैं सुछन्द न पिछाने निज शुद्धता ।
कोऊ व्यवहार दान शील तप भावको ही, आतमको हित जान छाँडत न मुद्धता ।।
कोऊ व्यवहारनय निश्चयके मारगको, भिन्न भिन्न पहिचान करै निज उद्धता ।
जब जानै निश्चयके भेद व्यवहार सब, कारण है उपचार मानें तब बुद्धता ।। ५ ।।

दोहा—श्रीगुरु परमदयाल ह्वै, दियो सत्य उपदेश ।
ज्ञानी माने जानके, ठाने मूढ़ कलेश ।। ६ ।।

१–भाषाकार स्व० पं० टोडरमलजी रचित ।

सूत्रावतारः

आर्याछन्दाः—तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ।। १ ।।

अन्वयार्थौ—[**यत्र**] जिसमें [**दर्पणतल इव**] दर्पणके पृष्ठभागके समान [**सकला**] सम्पूर्ण [**पदार्थमालिका**] पदार्थोंका समूह [**समस्तैरनन्तपर्यायैः समं** [अतीत, अनागत, वर्तमानकालकी समस्त अनन्त पर्यायोंसहित [**प्रतिफलति**] प्रतिबिम्बित होता है, [**तत्**] वह [**परंज्योतिः**] सर्वोत्कृष्ट शुद्धचेतना स्वरूपी प्रकाश [**जयति**] जयवन्त होओ ।

भावार्थ—शुद्ध चेतना प्रकाशकी कोई ऐसी ही महिमा है कि उसमें सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने आकारसे प्रतिभासित होते हैं; और फिर उन पदार्थोंके जितने भूत भविष्यत् वर्तमान पर्याय हैं, वे भी प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे आरसोके पृष्ठभागमें घट पटादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं ।

आरसीके दृष्टान्तमें विशेषता है । आरसीके कुछ ऐसी अभिलाषा नहीं है कि मैं इन पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करूँ, और आरसी उस लोहेकी सुईके समान जो कि चुम्बक पाषाणके समीप स्वयमेव जाती है, अपने स्वरूपको छोड़ उनके प्रतिबिम्बित करनेको पदार्थोंके समीप नहीं जाती, तथा वे पदार्थ भी अपने स्वरूपको छोड़कर उस आरसीमें प्रवेश नहीं करते, तथा वे पदार्थ आपको प्रतिबिम्बित करने के लिये साभिप्रायी (गरजी) पुरुषके सदृश प्रार्थना भी नहीं करते । सहज ही ऐसा सम्बन्ध है कि जैसा उन पदार्थोंका आकार है वैसे ही आकाररूप होकर आरसीमें प्रतिबिम्बित होते हैं । प्रतिबिम्बित होनेपर आरसी ऐसा नहीं मानती है कि "यह पदार्थ मुझको भला है, उपकारी है, राग करने योग्य है, अथवा बुरा है, अपकारी है, द्वेष करने योग्य है" किन्तु सर्व पदार्थों में साम्यभाव पाया जाता है । जैसे कितने एक घट पटादि पदार्थ आरसोमें प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही ज्ञानरूपी आरसी (दर्पण) में समस्त जीवादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं । ऐसा कोई द्रव्य व पर्याय नहीं जो ज्ञानमें न आया हो । अतः शुद्ध चैतन्य पदार्थकी सर्वोत्कृष्ट महिमा स्तुति करने योग्य है । यदि यहाँ पर कोई प्रश्न करे कि मंगलाचरणमें गुणीका स्तवन नहीं करके केवल गुणका स्तवन क्यों किया ? तो इसका उत्तर यह है कि उक्त मंगलमें आचार्य महाराजने अपनी परीक्षाप्रधानता व्यक्त की है । क्योंकि भक्त पुरुष **आज्ञाप्रधानी** और **परीक्षाप्रधानी** ऐसे दो भेदरूप होते हैं । इनमेंसे जो पुरुष परम्परा मार्गसे **देव गुरु**के उपदेशको ज्यों त्यों प्रमाण कर विनयादि क्रियारूप प्रवृत्ति करता है, उसे **आज्ञाप्रधानी** कहते हैं; और जो प्रथम अपने सम्यग्ज्ञानद्वारा स्तुति करने योग्य गुणोंका निश्चयकर पश्चात् बहुगुणी जानकर श्रद्धा करता है, उसे **परीक्षाप्रधानी** कहते हैं । क्योंकि ऐसा शास्त्रकारोंने कहा है **"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः"** अर्थात् कोई स्थान, वृद्धावस्था अथवा वेष पूज्य नहीं है, गुण ही पूज्य हैं । इस प्रकरणमें 'शुद्ध चैतन्यप्रकाशरूप गुण स्तुत्य है' ग्रन्थकर्त्ता आचार्यने यही प्रकट किया है । इस बातको सब ही स्वीकार करेंगे कि जिस पदार्थ विशेषमें उपयुक्त असाधारण गुण प्राप्त होवें वह सहज ही स्तुत्य होता है । क्योंकि गुण गुणी (पदार्थ) के ही आश्रित रह सकता है, पृथक् नहीं रह सकता; और किंचित् विचार करनेसे उक्त शुद्ध चैतन्य प्रकाश गुण अरहंत और सिद्धोंमें नियमसे निश्चित होता है ।

इस प्रकार ग्रन्थकर्त्ता अमृतचन्द्रसूरि अपने इष्टदेवका स्तवन करनेके पश्चात् इष्टागमको नमस्कार करते हुए कहते हैं—

परमागमस्य [1]जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।। २ ।।

अन्वयार्थौ—[**निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्**] जात्यन्ध पुरुषोंके हस्ति-विधानका निषेध करनेवाले [**सकलनयविलसितानां**] समस्त नयोंसे प्रकाशित वस्तु स्वभावोंके [**विरोधमथनं**] विरोधोंको दूर करनेवाले [**परमागमस्य**] उत्कृष्ट जैनसिद्धान्तके [**जीवं**] जीवनभूत [**अनेकान्तम्**] एकपक्ष रहित स्याद्वादको (अहम्) मैं अमृतचन्द्रसूरि [**नमामि**] नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—जैसे जन्मके अंधे पुरुष हाथीके पृथक् पृथक् अवयवोंका स्पर्श करके उनसे हाथीका आकार निश्चय करनेमें वाद-विवाद करते हुए भी कुछ निश्चय नहीं कर सकते, और नेत्रवान पुरुष उनके सब कल्पनाकृत आकारविषयक वादको क्षणमात्रमें दूर कर देता है, उसी प्रकार अज्ञानी लोग वस्तुके अनेक अङ्ग अपनी बुद्धिसे भिन्न भिन्न रीतियोंसे निश्चय करते भी सम्यग्ज्ञान विना सर्वाङ्ग वस्तुको न जानकर परस्पर विवाद करते रहते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञानी स्याद्वाद-विद्याके प्रभावसे यथावत् वस्तुका निर्णय कर भिन्न भिन्न कल्पनाओंको दूर कर देता है, यथा—साङ्ख्यमती वस्तुको केवल नित्य और बौद्ध क्षणिक मानता है. परन्तु स्याद्वादी कहता है कि जो सर्वथा नित्य है, तो अनेक अवस्थाओंका पलटना किस प्रकार होता है ? और जो सर्वथा क्षणिक है तो "यह वही वस्तु है, जो पहिले देखी थी" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान क्यों होता है ? अतएव पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षा कथञ्चित् नित्य और पर्यायकी अपेक्षा क्षणिक है, तथा स्याद्वादसे सर्वाङ्ग वस्तुका निश्चय होनेसे एकान्त श्रद्धानका निषेध होता है ।

नयविवक्षासे वस्तुमें **अस्ति नास्ति, एक अनेक, भेद अभेद, नित्य अनित्य,** आदि अनेक स्वभाव पाये जाते हैं, और उन स्वभावोंमें परस्पर विरोध ज्ञात होता है, जैसे—'**अस्ति**' और '**नास्ति**' में बिलकुल प्रतिपक्षीपन है, परन्तु उन्हीं स्वभावोंको स्याद्वादसे सिद्ध करनेमें समस्त विरोध दूर हो जाते हैं । क्योंकि—एक ही पदार्थ कथञ्चित् स्वचतुष्टयकी[2] अपेक्षा अस्तिरूप 'कथञ्चित् परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप, कथञ्चित् समुदायकी अपेक्षा एकरूप, कथञ्चित् गुणपर्यायकी अपेक्षा अनेकरूप, कथञ्चित् संज्ञा संख्या लक्षणकी अपेक्षा गुणपर्यायादि अनेक भेदरूप, कथञ्चित् सत्त्वकी अपेक्षा अभेदरूप, कथञ्चित् द्रव्यकी अपेक्षा नित्य, और कथञ्चित् पर्यायकी अपेक्षा से अनित्य होता है । इस प्रकार स्याद्वादसे[3] सर्व विरोध दूर हो जाते हैं; इसलिये उसे "सकलनयविलसितानां विरोधमथनं" यह विशेषण दिया है ।

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन ।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं ।। ३ ।।

अन्वयार्थौ—[**लोकत्रयैकनेत्रं**] तीन लोक सम्बन्धी पदार्थोंको प्रकाशित करनेमें अद्वितीय नेत्र [**परमागमं**] उत्कृष्ट जैनआगमको [**प्रयत्नेन**] अनेक प्रकारके उपायोंसे [**निरूप्य**] जानकर अर्थात्

१—बीजं पाठ भी है । २—अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा । ३—**स्याद्**=कथञ्चित्नयअपेक्षासे+**वाद**=वस्तुका स्वभाव कथन ।

परम्परा जैनसिद्धान्तोंके निरूपणपूर्वक [**अस्माभिः**] हमारेसे [**विदुषां**] विद्वानोंके अर्थ [**अयं**] यह [**पुरुषार्थसिद्ध्युपायः**] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ [**उपोद्ध्रियते**] उद्धार किया जाता है ।

मुख्योपचारविवरण-निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।

व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम् ।। ४ ।।

अन्वयार्थौ—[**मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः**] मुख्य और उपचार कथनके प्रकटपनेसे नष्ट किया है शिष्योंका दुर्निवार अज्ञानभाव जिन्होंने तथा [**व्यवहारनिश्चयज्ञाः**] व्यवहार-नय और निश्चनयके जाननेवाले ऐसे आचार्य [**जगति**] जगत्में [**तीर्थम्**] धर्मतीर्थको [**प्रवर्त्तयन्ते**] प्रवर्त्तते हैं ।

भावार्थ--उपदेशदाता आचार्यमें जिन जिन गुणोंकी आवश्यकता है, उन सबमें मुख्य गुण व्यवहार और निश्चयनयका ज्ञान है । क्योंकि जीवोंका अनादि अज्ञानभाव मुख्यकथन और उपचरित-कथनके ज्ञानसे ही दूर होता है, सो मुख्यकथन तो निश्चयनयके अधीन है, और उपचरितकथन व्यव-हारनयके अधीन है ।

निश्चयनय—' स्वाश्रितो निश्चयः ' अर्थात् जो स्वाश्रित[१] (अपने आश्रयसे) होता है उसे निश्चयनय कहते हैं, और इसीके कथनको मुख्यकथन कहते हैं । इसके जानने से शरीरादिक अनादि परद्रव्यों के एकत्वश्रद्धानरूप अज्ञानभावका अभाव होता है, भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है तथा सर्व परद्रव्योंसे भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव होता है, और तब जीव परमानन्ददशामें मग्न होकर केवलदशाकी प्राप्ति करता है । जो अज्ञानी पुरुष इसके जाने बिना धर्ममें लवलीन होते हैं, वे शरीरादिक क्रियाकाण्डको उपादेय (ग्रहण करने योग्य) जानकर संसारके कारणभूत शुभोपयोगको ही मुक्तिका कारण मानकर स्वरूपसे भ्रष्ट होकर संसारमें परिभ्रमण करते हैं । इसलिये मुख्य कथनका जानना निश्चयनयके अधीन है, निश्चयनयके जाने विना यथार्थ उपदेश भी नहीं हो सकता । जो आप ही अनभिज्ञ है, वह कैसे शिष्यजनोंको समझा सकता है ? किसी प्रकार भी नहीं ।

व्यवहारनय—" पराश्रितो[२] व्यवहारः " जो परद्रव्यके आश्रित होता है, उसे व्यवहार कहते हैं और पराश्रितरूप कथन उपचारकथन कहलाता है । उपचारकथनका ज्ञाता शरीरादिक सम्बन्धरूप संसारदशाको जानकर संसारके कारण आस्रव बंधोंका निर्णय कर मुक्ति होनेके उपायरूप संवर निर्जरा तत्त्वोंमें प्रवृत्त होता है । परन्तु जो अज्ञानी जीव इस (व्यवहारनय) को जाने विना शुद्धोपयोगी होनेका प्रयत्न करते हैं, वे पहिले ही व्यवहार साधनको छोड़ पापाचरणमें मग्न हो नरकादि दुःखोंमें जा पड़ते हैं । इसलिये व्यवहारनयका (जिसके अधीन उपचारकथन है) जानना परमावश्यक है । अभिप्राय यह कि उक्त दोनों नयोंके जाननेवाले उपदेशक ही सच्चे धर्मतीर्थके प्रवर्त्तक होते हैं ।

१–जिस द्रव्यके अस्तित्वमें (मौजूदगीमें) जो भाव पाये जावें, उसी द्रव्यमें उसीका स्थापन कर किंचिन्मात्र भी अन्य कल्पना नहीं करनेको स्वाश्रित कहते हैं । २–किञ्चित् मात्र कारण पाकर किसी द्रव्यका भाव किसी द्रव्यमें स्थापन करनेको पराश्रित कहते हैं ।

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः, प्रायः सर्वोऽपि संसारः ।। ५ ।।

अन्वयार्थौ—आचार्य इन दोनों नयोंमेंसे [**इह**] इस ग्रन्थमें [**निश्चयं**] निश्चयनयको [**भूतार्थं**] भूतार्थ और [**व्यवहारं**] व्यवहारनयको [**अभूतार्थं**] अभूतार्थ [**वर्णयन्ति**] वर्णन करते हैं। [**प्रायः**] बहुत करके [**भूतार्थबोधविमुखः**] भूतार्थ अर्थात् निश्चयनयके ज्ञानसे विरुद्ध जो अभिप्राय हैं, वे [**सर्वोऽपि**] समस्त ही [**संसारः**] संसारस्वरूप हैं।

भावार्थ—'भूतार्थ[१]' शब्दका अर्थ सत्यार्थ है, और कल्पनासे कुछ भी न कहकर जैसाका तैसा कहनेको सत्यार्थ कहते हैं। यद्यपि जीव और पुद्गलका अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और दोनों मिले हुए दीखते हैं; तथापि निश्चयनय शुद्ध आत्मद्रव्यको शरीरादिक परद्रव्योंसे भिन्न ही प्रकाश करता है, और यही भिन्नता मुक्तदशामें प्रकट होती है। अतएव निश्चयनय ही भूतार्थ है। यद्यपि जीव और पुद्गलका सत्व भिन्न है, रूप बदलनेपर स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है, तथापि व्यवहारनय एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धका छल पाकर आत्मद्रव्यको शरीरादिक परद्रव्यों से एकत्वरूप कहता है। मुक्तिदशामें प्रकट भिन्नता होनेपर व्यवहारनय स्वयं ही पृथक् प्रकाश करनेके लिये तत्पर हो जाता है, इसलिये व्यवहार अभूतार्थ[२] है।

'प्रायः भूतार्थबोधविमुखः सर्वोऽपि संसारः' इस वाक्यका विशेषार्थ—आत्माका परिणाम निश्चयनयके श्रद्धानसे विमुख होकर शरीरादिक परद्रव्योंसे एकत्वरूप प्रवर्त्तन करता है। इसको ही संसार कहते हैं, संसार कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। इसलिये जो जीव संसारसे मुक्त होना चाहे, उसको शुद्ध (निश्चय) नयके सन्मुख रहना योग्य है।

एक पुरुष कर्दमके संयोगसे जिसका निर्म्मल भाव आच्छादित हो गया है, ऐसे जलको समल ही पीता है, और कोई दूसरा पुरुष थोड़ासा परिश्रम कर कतकफल (निर्मली) डालके जल और कर्दमको जुदा जुदा करके शुद्ध निर्म्मल जलका आस्वादन करता है। ठीक इस ही प्रकार अज्ञानी जीव कर्मसंयोगसे जिसका ज्ञानस्वभाव आच्छादित है, ऐसे अशुद्ध आत्माका अनुभव करते हैं, और दूसरे अपनी बुद्धिसे शुद्ध निश्चयनयके स्वरूपको जानकर कर्म और आत्माको पृथक् पृथक् करके निर्म्मल आत्माका स्वानुभवरूप आस्वादन करते हैं। इससे शुद्ध नय कतकफलके समान है। इसके श्रद्धानसे सर्वसिद्धि[३] होती है।

अबुधस्य बोधनार्थं[४] मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ।। ६ ।।

१–**भूत**—पदार्थमें पाये जानेवाले भाव उनका **अर्थ**-ज्योंका त्यों प्रकाश करना इसे ही भूतार्थ कहते हैं। इस शब्दका पूर्णभाव **सत्यार्थ** शब्द है। कल्पनासे कुछ न कहकर ज्योंका त्यों कहना यही **सत्यार्थ** है। २–**अभूत**—जो पदार्थमें न पाया जावे, ऐसा **अर्थ**-भाव, उसे अनेक कल्पनाकर प्रकाशित करे, उसे **अभूतार्थ** अर्थात् **असत्यार्थ** कहते हैं, जैसे मृषावादी पुरुष कल्पनाके बलसे अनेक कल्पना करके तादृश कर दिखाता है। ३–इस प्रकरणमें यह प्रश्न हो सकता है, कि यदि 'व्यवहार' असत्यार्थ है, और कार्यकारी नहीं है: तो व्यवहारनयका कथन आचार्योंने क्यों किया ? परन्तु इसका उत्तर आगेके श्लोकमें दिया गया है। ४–देशनार्थमित्यपि पाठः।

अन्वयार्थौ—[**मुनीश्वराः**] ग्रन्थ करनेवाले आचार्य [**अबुधस्य**] अज्ञानी जीवोंके [**बोधनार्थं**] ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये [**अभूतार्थं**] व्यवहारनयको [**देशयन्ति**] उपदेश करते हैं। और [**यः**] जो जीव [**केवलं**] केवल [**व्यवहारम् एव**] व्यवहारनयको ही साध्य [अवैति] जानता है, [**तस्य**] उस मिथ्यादृष्टिके लिये [**देशना**] उपदेश [**नास्ति**] नहीं है।

भावार्थ—अनादिकालके अज्ञानी जीव व्यवहारनयके उपदेश दिये बिना समझ नहीं सकते, इस कारण आचार्य उनको व्यवहारनयके मार्गसे ही समझाते हैं। जैसे—किसी मुसलमानको एक ब्राह्मणने आशीर्वाद दिया, परन्तु वह कुछ भी न समझ सका, और उस ब्राह्मणके मुँहकी तरफ देखता रह गया। उसी समय वहाँ एक द्विभाषिया आ गया और उसने समझा दिया कि, 'आपका भला हो' ऐसा ब्राह्मण महाशय कहते हैं। यह सुन मुसलमानने आनन्दित हो उसे अंगीकार किया, ठीक इसी प्रकार अज्ञानी जीवोंको '**आत्मा**' ऐसा नाम लेकर उपदेश दिया गया, परन्तु जब अज्ञानी जीव उसको कुछ भी न समझे और आचार्य महाशयके मुँहकी ओर देखने लगे, तब व्यवहार और निश्चयनयके जाननेवाले उन महात्मा आचार्योंने व्यवहारनय द्वारा भेद उत्पन्न कर समझा दिया कि यह जो देखनेवाला, जाननेवाला और आचरण करनेवाला पदार्थ है, वही आत्मा है[1]।

घृतसंयुक्त मिट्टीके घडेको व्यवहार में घृतका घड़ा कहते हैं, और कोई पुरुष जन्मसे ही उसे 'घृतका घड़ा' जानता है, यहाँतक कि वह उसे बिना 'घृतका घड़ा' कहे समझ ही नहीं सकता, मिट्टीका घड़ा कहनेसे भी नहीं समझ सकता, तथा कोई दूसरा पुरुष उसे कोरे घडेके नामसे ही समझता है, परन्तु यथार्थमें विचार किया जावे तो वह घड़ा मिट्टीका ही है, केवल उसे समझानेके लिये ही 'घृतका घड़ा' नाम कहा जाता है, ठीक इसी ही प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मजनित पर्यायसंयुक्त है, उसे व्यवहारमें देव मनुष्य इत्यादि नाम दिये जाते हैं; क्योंकि अज्ञानी जीव अनादिकालसे देव मनुष्यादि स्वरूप ही जानते हैं। यहाँतक कि वे आत्माको देव मनुष्यादि कहे विना समझ ही नहीं सकते, यदि कोई उन्हें **चैतन्यस्वरूप आत्मा** कहकर समझावे, तो वे अन्य कोई परब्रह्म परमेश्वर समझ लेवें, और निश्चय-पूर्वक विचार किया जावे, तो **आत्मा** चैतन्यस्वरूप ही है, परन्तु अज्ञानियोंके समझानेके लिए आचार्य गति, जाति, भेदसे जीवका निरूपण करते हैं, सो यही व्यवहारनय[2] है।

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य।। ७।।

अन्वयार्थौ—[**यथा**] जैसे [**अनवगीतसिंहस्य**] सिंहके सर्वथा नहीं जाननेवाले पुरुषको [**माणवकः**] बिल्ली [**एव**] ही [**सिंहः**] सिंहरूप [**भवति**] होती है, [**हि**] निश्चय करके [**तथा**] उसी प्रकार [**अनिश्चयज्ञस्य**] निश्चयनयके स्वरूपसे अपरिचित पुरुषके लिये [**व्यवहारः**] व्यवहार [**एव**] ही [**निश्चयतां**] निश्चयनयके स्वरूपको [**याति**] प्राप्त होता है।

१—यह सद्भूतव्यवहारनयका उपदेश है। २—यह असद्भूतव्यवहारनयका उदाहरण है।

भावार्थ—जैसे बालक जो सिंह और बिल्ली दोनोंसे अजान है, बिल्लीको ही सिंह मान लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव निश्चयनयको विनाजाने व्यवहारको ही निश्चयमान बैठता है, आत्माके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप मोक्षमार्गको नहीं पहिचानकर व्यवहाररूप दर्शन, ज्ञान, चारित्रका साधन कर आपको मोक्षमार्गी मानता है, अर्थात् अरहंतदेव, निर्ग्रन्थगुरु, दयामयी धर्मका साधनकर सम्यक्त्वी मानता और किञ्चित् जिनवाणीको जानकर सम्यग्ज्ञानी मानता है, महाव्रतादि क्रियाओंके साधनमात्रसे चारित्रवान् मानता है, इस भाँति अज्ञानी जीव शुभोपयोगमें सन्तुष्ट होकर शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्गमें प्रमादी हो जाते हैं और केवल व्यवहारनयके ही अवलम्बी हो जाते हैं। ऐसे जीवोंको उपदेश देना निष्फल है।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो जीव [**व्यवहारनिश्चयौ**] व्यवहारनय और निश्चयनयको [**तत्त्वेन**] वस्तुस्वरूपके द्वारा [**प्रबुध्य**] यथार्थरूप जानकर [**मध्यस्थः**] मध्यस्थ [**भवति**] होता है. अर्थात् निश्चयनय व व्यवहारनयसे पक्षपात रहित होता है, [**सः**] वह [**एव**] ही [**शिष्यः**] शिष्य [**देशनायाः**] उपदेशके [**अविकलं**] सम्पूर्ण [**फलं**] फलको [**प्राप्नोति**] प्राप्त होता है।

भावार्थ—श्रोतामें अनेक गुणोंकी आवश्यकता है, परन्तु उन सबमें व्यवहार निश्चयको जान करके हठग्राही न होना मुख्य गुण है—

उक्तं च गाथा—

जइ जिणमयं पवंजह ता मा ववहारणिच्छए मुअह। एकेण विणा छिज्जइ, तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥

—पं० प्रवर आशाधरकृत अनगारधर्मामृत प्र० अ० पृष्ठ १८.

अर्थात् जो तू जिनमतमें प्रवर्त्तन करता है, तो व्यवहार निश्चयको मत छोड़। जो निश्चयका पक्षपाती होकर व्यवहारको छोड देगा, तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थका अभाव हो जावेगा, और जो व्यवहारका पक्षपाती होकर निश्चयको छोड़ेगा, तो शुद्धतत्त्व स्वरूपका अनुभव होना दुस्तर है। इसलिये व्यवहार निश्चयको अच्छी तरह जानकर पश्चात् यथायोग्य अंगीकार करना, पक्षपाती न होना, यह उत्तम श्रोताका लक्षण है। यहाँ पर यदि कोई प्रश्न करे कि जो गुण निश्चय व्यवहारका जानना वक्ताका कहा था, वही श्रोताका क्यों कहा ? तो इसका उत्तर यही है कि वक्तामें गुण अधिकतासे रहते हैं और श्रोतामें वे ही गुण स्तोकरूपसे रहते हैं।

इति उत्थानिका

ग्रंथ-प्रारंभः

—::०::—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः ।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ।।९।।

अन्वयार्थौ—[**पुरुषः**] पुरुष अर्थात् आत्मा [**चिदात्मा**] चेतनास्वरूप [**अस्ति**] है, [**स्पर्शगन्धरसवर्णैः**] स्पर्श, गंध, रस और वर्णसे [**विवर्जितः**] रहित है, [**गुणपर्ययसमवेतः**] गुण और पर्याय सहित है, तथा [**समुदयव्ययध्रौव्यैः**] उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य करके [**समाहितः**] युक्त है ।

भावार्थ—पुर् = उत्तम चैतन्यगुण, उनमें जो **शेते**=स्वामी होकर प्रवृत्ति करे, उसकी **पुरुष**[1] संज्ञा है, अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप चेतनाके नाथको पुरुष कहते हैं । आत्माका यह **अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव** इन तीनों दोषोंसे रहित असाधारण लक्षण है । पदार्थका जो लक्षण कहा जावे, वह किसी किसी लक्ष्यमें तो पाया जावे और किसी किसी लक्ष्यमें नहीं पाया जावे, वह लक्षण **अव्याप्ति** दूषणयुक्त कहा जाता है । इस अव्याप्तिसे रहित, चैतन्यगुणयुक्त आत्माका लक्षण होता है, क्योंकि ऐसा कोई आत्मा नहीं जिसमें चेतना न हो, परन्तु जब आत्माका लक्षण 'रागादि सहित' कहा जावेगा तो इसमें अव्याप्ति दूषणका प्रादुर्भाव होगा, क्योंकि रागादिक यद्यपि समस्त संसारी जीवोंके पाये जाते हैं, परन्तु सिद्ध जीवोंके नहीं हैं । और जो लक्षण लक्ष्यमें भी पाया जावे, उसे अतिव्याप्तियुक्त कहते हैं । आत्माका उक्त लक्षण इस अतिव्याप्ति दूषणसे भी रहित है, क्योंकि, **'चेतनालक्षण'** जीव पदार्थको छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थमें संघटित नहीं होता, परन्तु यदि आत्माका लक्षण **अमूर्तीक**[2] (मूर्ति रहित) कहा जावे, तो **अतिव्याप्ति** दूषण आ घेरता है, क्योंकि आत्माका अमूर्तीक गुण धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्योंमें भी पाया जाता है, और जो लक्षण प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणोंसे लक्ष्यमात्रमें पाया ही नहीं जाता है, उसे **असंभवी** कहते हैं । आत्माका **'चेतनालक्षण'** इस दूषणसे भी रहित है, क्योंकि यह लक्षण जीवमें प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया हुआ है, परंतु आत्माका लक्षण यदि **जड़ सहित** कहा जावे, तो असंभव दोष का आगमन होता है, क्योंकि यह लक्षण प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है । इस प्रकार आत्माका **चेतना** लक्षण तीनों दोषोंसे रहित है । चेतना दो प्रकारकी है, एक **ज्ञानचेतना** और दूसरी **दर्शनचेतना** । जो चेतना पदार्थोंको विशेषतासे साकाररूप प्रदर्शित करे, अर्थात् जाने, उसे **ज्ञानचेतना** और जो सामान्यरूपसे निराकाररूप प्रदर्शित करे, उसे **दर्शनचेतना** कहते हैं । फिर यही चेतना परिणमनकी अपेक्षा तीन प्रकार है—एक **ज्ञानचेतना** जो कि शुद्धज्ञान स्वभावरूप परिणमन करती है, दूसरी **कर्मचेतना** जो कि रागादि कार्यरूप परिणमन करती है, और तीसरी **कर्मफलचेतना** जो कि सुख दुःखादि भोगनेरूप परिणमन करती है । उक्त प्रकारसे चेतनाके अनेक स्वांग होते हैं, परन्तु चेतनाका अभाव कहीं भी नहीं होता । इसी चेतना लक्षणसे विराजमान जीव संज्ञक पदार्थका नाम **पुरुष है** ! **'स्पर्शरसगंधवर्णैः विवर्जितः'**—

१–पुरि शेते इति पुरुषः ।   २–धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य भी अमूर्तीक है ।

आठ प्रकार स्पर्श[1], दो प्रकार गंध[2], पाँच प्रकार रस[3] 'पाँच प्रकारवर्ण[4], इत्यादि पौद्गलिक लक्षणोंसे रहित अमूर्तीक जीव है। उक्त विशेषणसे जीवकी पुद्गलसे पृथकता प्रकट की गई है, क्योंकि यह आत्मा अनादिसम्बद्धरूप पुद्गल द्रव्यमें अहंकार ममकाररूप प्रवृत्ति करता है। पुनः **"गुणपर्य्ययसमवेतः"** पुरुष गुण पर्य्यायोंसे तदात्मक है, क्योंकि द्रव्य-गुण-पर्य्यायमय है। आत्मा एक द्रव्य है, इसीलिये गुण-पर्य्यायों सहित विराजमान है। गुणका लक्षण सहभूत[5] है अर्थात् जो द्रव्योंमें सदाकाल पाये जावें, उन्हें गुण कहते हैं। आत्मामें **साधारण** और **असाधारण** भेदसे दो प्रकारके गुण हैं, जिनमें ज्ञान दर्शनादिक तो असाधारण गुण हैं, क्योंकि इनकी प्राप्ति अन्य द्रव्योंमें नहीं है। और अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादिक साधारण गुण हैं, क्योंकि ये अन्य द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं। पर्य्यायका लक्षण क्रमवर्त्ती है, द्रव्योंमें जो अनुक्रमसे उत्पन्न होवें उन्हें पर्य्याय कहते हैं। आत्माके यह पर्य्याय दो भेदरूप हैं। १ नर नारकादि आकृतिरूप व सिद्धाकृतिरूप **व्यञ्जनपर्य्याय** और रागादिक परिणमनरूप छह प्रकार हानि-वृद्धिरूप **अर्थपर्य्याय**। इन गुण पर्य्यायों से आत्माकी तदात्मक एकता है। इस विशेषणसे आत्मा का विशेष्य जाना जाता है। तथा—**"समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहितः"**—नवीन अर्थपर्य्याय व व्यञ्जनपर्य्यायकी उत्पत्तिको **उत्पाद,** पूर्व पर्य्यायके नाशको **व्यय,** और गुणकी अपेक्षा व पर्य्यायकी अपेक्षा शाश्वतपनेको **ध्रौव्य** कहते हैं। आत्मा इन तीनोंसे संयुक्त रहता है, जैसे—सुवर्णकी कुण्डल पर्य्यायमें उत्पत्ति (**उत्पाद**) कंकणसे विनाश (**व्यय**) और पीतत्वादिक व सुवर्णत्वकी अपेक्षा **ध्रौव्य** (मौजूदगी) रहता है। इस विशेषणसे आत्माका अस्तित्व व्यक्त होता है।

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥

अन्वयार्थौ—[**सः**] वह चैतन्य आत्मा [**अनादिसन्तत्या**] अनादि परिपाटीसे [**नित्यं**] निरन्तर [**ज्ञानविवर्तैः**] ज्ञानादिगुणोंके विकाररूप रागादि परिणामों से [**परिणममानः**] पणिमता हुआ [**स्वेषां**] अपने [**परिणामानां**] रागादि परिणामोंका [**कर्त्ता च भोक्ता च**] कर्त्ता और भोक्ता भी [**भवति**] होता है।

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकालसे अशुद्ध हो रहा है। आज ही इसमें कुछ नवीन अशुद्धता नहीं हुई है, हमेशा कर्मरूप द्रव्यकर्मसे रागादिक होते हैं और फिर रागादिक परिणामोंसे द्रव्यकर्मका बंध होता है, आत्मा और अशुद्धताका "सुवर्णकीटिकावत्"(सुवर्ण और उसकी कीटके समान)अनादि सम्बन्ध है। आत्मा इस कर्मरूप अशुद्ध सम्बन्धसे अपने ज्ञान स्वभावको बिस्मरण किये हुए उदयागत कर्मपर्य्यायोंमें इष्ट अनिष्ट भावसे रागादिकरूप परिणमन करता है। यद्यपि इन परिणामों का कारण द्रव्यकर्म है, तथापि

१-शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कठोर, हलका, भारी। २-सुगन्ध-दुर्गन्ध। ३-तिक्त, कटुक, कषायना, खट्टा, मीठा। ४-लाल, पात, श्वेत, नील, कृष्ण। ५-**सह**= द्रव्यके साथ है **भूत**= सत्ता जिसकी।

इनका (परिणामों का) चैतन्यमय होनेसे व (आत्माके साथ) व्याप्य[1]-व्यापक सम्बन्ध होनेसे आत्मा ही कर्त्ता[2] है,और भाव्यभावक[3] भावसे आत्मा ही भोक्ता[4] है।

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति ।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ।।११।।

अन्वयार्थौ—[**यदा**] जिस समय [**सः**] उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा [**सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं**] सम्पूर्ण विभावोंसे उत्तीर्ण होकर [**अचलम्**] अपने निष्कम्प [**चैतन्यम्**] चैतन्य स्वरूपको [**आप्नोति**] प्राप्त होता है, [**तदा**] तब 'यह आत्मा' वह [**सम्यक्पुरुषार्थसिद्धि**] भले प्रकार पुरुषार्थके प्रयोजनकी सिद्धिको [**आपन्नः** 'सन्'] प्राप्त होता हुआ [**कृतकृत्यः**] कृतकृत्य [**भवति**] होता है।

भावार्थ—जब आत्मा **स्वपरभेदविज्ञानसे** शरीरादिक परद्रव्योंको पृथक् जानने लगता है, तब उन द्रव्योंमें 'यह भला' और 'यह बुरा' ऐसी बुद्धिका परित्याग करता है; क्योंकि भला बुरा अपने परिणामोंसे होता है, परद्रव्योंके करनेसे नहीं होता, और जब समस्त परद्रव्योंमें राग-द्वेष भावोंका त्याग करने पर भी रागादिकोंकी उत्पत्ति होती है, तब उनके शमन करनेके लिए अनुभवके अभ्यासमें उद्यमवान् रहता है और ऐसा होनेसे जिस समय सर्व विभावोंका नाश कर अक्षोभ समुद्रवत् शुद्धात्मस्वरूपमें लवणवत् लवलीन हो जाता है, तब **ध्याता** और **ध्येयका** विकल्प नहीं रहता, और ऐसा नहीं जानता है कि मैं शुद्धात्मस्वरूपका ध्यान करता हूं, किन्तु आप ही तादाम्यवृत्तिसे शुद्धात्मस्वरूप होकर निष्कम्प परिणमन करता है। उस समय आत्मा कृतकृत्य कहलाता है, क्योंकि उसे जो कुछ करना था सब कर चुका, कुछ भी अवशेष नहीं रहा। इस ही अवस्थाको पुरुषार्थसिद्धि कहते हैं, क्योंकि इसमें पुरुषके आत्माके अर्थ (कार्य)की सिद्धि हो जाती है।

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ।।१२।।

अन्वयार्थौ—[**जीवकृतं**] जीवके किये हुए [**परिणामं**] रागादिक परिणामोंको [**निमित्तमात्रं**] निमित्तमात्र[5][**प्रपद्य**] पा करके [**पुनः**] फिर [**अन्ये पुद्गलाः**] जीवसे भिन्न अन्य पुद्गलस्कन्ध[6] वे [**अत्र**] आत्मामें [**स्वयमेव**] स्वतः ही [**कर्मभावेन**] ज्ञानावरणादि कर्मरूप [**परिणमन्ते**] परिणमन करते हैं।

भावार्थ—जिस समय जीव, राग-द्वेष-मोहभावरूप परिणमन करता है, उस समय उन भावोंका

१—साहचर्य्यके नियमको व्याप्ति कहते हैं, जैसे, धूम और अग्निमें साहचर्य्य (सहचारीपना) पाया जाता है। जहाँ धूम हो वहाँ अग्नि अवश्य होती है, क्योंकि धूमकी उत्पत्ति अग्निसे ही है। ठीक इस ही प्रकार आत्मा और रागादिक परिणामोंमें साहचर्य्य पाया जाता है, क्योंकि जहाँ रागादिक होते हैं, वहाँ आत्मा अवश्य होता है, कारण आत्माके ही रागादिक होते हैं, अथच इस व्याप्तिकी क्रियामें कर्म व्याप्य और कर्त्ता व्यापक है। ये रागादिक भाव आत्माके करने से होते हैं, इसलिये वे **व्याप्य** और उनका कर्त्ता **आत्मा** है, इसलिये वह **व्यापक** हुआ। २—व्याप्य व्यापक सम्बन्ध जहाँ पाया जाता है वहां ही कार्य-कारण सम्बन्ध संभाव्य होता है। ३—अनुभवन करने योग्य भावको **भाव्य** और अनुभवन करनेवाले पदार्थको **भावक** कहते हैं। ४—यह भाव्य-भावक सम्बन्ध जहाँ घटित हो, वहाँ भोग्य-भोक्तासम्बन्ध घटित होता है, अन्यत्र नहीं। ५—कारणमात्र। ६—बहुत परमाणुओंसे बना हुआ अर्थात् कार्माणवर्गणा।

निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वतः ही कर्म अवस्थाको धारण करलेते हैं। विशेष इतना ही है कि जो आत्मा देव, गुरु, धर्मादिक प्रशस्त रागरूप परिणमन करता है, उसके शुभ कर्मका बंध होता है, और जो अन्य अप्रशस्त[1] राग द्वेष मोहरूप परिणमन करता है, उसे पापका बंध होता है। यहाँ यदि यह प्रश्न किया जावे कि जीवके महा सूक्ष्मरूप भावोंकी स्मृति[2] जड़ पुद्गलको किस प्रकार होती है ? और यदि नहीं होती तो वे पुद्गलपरमाणु बिना ही कारण पुण्य-पापरूप परिणमन कैसे करते हैं ? तो उसका उत्तर यह है कि जैसे एक मंत्रसाधक पुरुष गुप्त स्थानमें बैठकर किसी मंत्रका जप करता है और उसके बिना ही किये केवल मंत्रकी शक्तिसे अन्य जनोंको पीड़ा उत्पन्न होती है अथवा सुख होता है। ठीक इस ही प्रकार अज्ञानी जीव अपने अन्तरंगमें उत्पन्न हुए विभावभावोंकी शक्तिसे उनके बिना ही कहे कोई पुद्गल पुण्यरूप और कोई पुद्गल पापरूप परिणमन करते हैं। सारांश इसके भावोंमें ऐसी कुछ विचित्र शक्ति है कि उसके निमित्तसे पुद्गल स्वयं ही अनेक अवस्थायें धारण करते हैं।

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ।। १३ ।।

अन्वयार्थौ—[**हि**] निश्चय करके [**स्वकैः**] अपने [**चिदात्मकैः**] चेतनास्वरूप [**भावैः**] रागादिक परिणामोंसे [**स्वयम् अपि**] आप ही [**परिणममानस्य**] परिणमते हुए [**तस्य=चितः अपि**] पूर्वोक्त आत्माके भी [**पौद्गलिकं**] पुद्गलसम्बन्धी [**कर्म**] ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म [**निमित्त-मात्रं**] कारणमात्र [**भवति**] होते हैं।

भावार्थ—जीवके रागादिक विभावभाव स्वयं नहीं होते हैं; क्योंकि जो आप ही से उत्पन्न होवें तो ज्ञान दर्शनके समान ये भी स्वभावभाव होजावें। और स्वभाव भाव हो जानेसे अविनाशी हो जावें। अतएव ये भाव औपाधिक हैं, क्योंकि अन्य निमित्तसे उत्पन्न होते हैं, और यह निमित्त ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मका जानना चाहिये। जैसे जैसे द्रव्यकर्म उदय अवस्थाको प्राप्त होते हैं, वैसे वैसे आत्मा विभाव-भावोंसे परिणमन करता है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पुद्गलमें ऐसी कौनसी शक्ति है जो चैतन्य के नाथको भी विभावभावोंमें परिणमन कराती है ? इसका समाधान इस प्रकार होता है कि जैसे किसी पुरुषपर मंत्रपूर्वक रज (धूलि) डाली जावे तो वह आपको भूलकर नाना प्रकारकी विपरीत चेष्टायें करने लगता है। क्योंकि मंत्रके प्रभावसे उस रजमें ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो चतुर पुरुषको भी पागल बना देती है। इसी प्रकार यह आत्मा अपने प्रदेशोंमें रागादिकोंके निमित्तसे बंधरूप हुए पुद्गलों के कारण आपको भूलकर नाना प्रकार विपरीत भावों में परिणमन करता है, सारांश इसके विभाव भावोंसे पुद्गलमें ऐसी शक्ति हो जाती है, जो चैतन्यपुरुषको विपरीत चलाती है।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ।।१४ ।।

अन्वयार्थौ—[**एवम्**] इस प्रकार [**अयं**] यह आत्मा [**कर्मकृतैः**] कर्मोंके किये हुए [**भावैः**] रागादि या शरीरादि भावोंसे [**असमाहितोऽपि**] संयुक्त न होनेपर भी [**बालिशानां**] अज्ञानी जीवों को

१-निर। २-खबर।

[**युक्तः इव**] संयुक्त सरीखा [**प्रतिभाति**] प्रतिभासित होता है, और [**सः प्रतिभासः**] वह प्रतिभास ही [**खलु**] निश्चय करके [**भवबीजम्**] संसारका बीजभूत है ।

भावार्थ—पहले कहा गया है कि रागादिक भाव पुद्गलकर्मको कारणभूत हैं और पुद्गलकर्म रागादिक भावोंको कारणभूत है । इससे यह आत्मा निज स्वभावोंकी अपेक्षा नाना प्रकारके कर्मजनित भावोंसे पृथक् ही चैतन्यमात्र वस्तु है । जैसे लाल रंगके निमित्तसे स्फटिकमणि लालरूप दिखलाई देती है, यथार्थमें लालस्वरूप नहीं है । रक्तत्व तो स्फटिकसे अलिप्त ऊपर ही ऊपर को झलकमात्र है । और स्फटिक स्वच्छ श्वेतवर्णपनेसे शोभायमान है । इस बातको परीक्षक जौहरी अच्छी तरहसे जानता है । परन्तु जो रत्न-परीक्षाकी कलासे अनभिज्ञ है, वह स्फटिकको रक्तमणि व रक्त स्वरूप ही देखता है । इसी प्रकार कर्मके निमित्तसे आत्मा रागादिकरूप परिणमन करता है, परन्तु यथार्थमें रागादिक आत्माके निज भाव नहीं हैं । आत्मा अपने स्वच्छतारूप चैतन्यगुणसहित विराजमान है । रागादिकपन तो स्वरूपसे विभिन्न ऊपर ही ऊपरकी झलकमात्र है । इस बातको स्वरूपके परीक्षक सच्चे ज्ञानी भलीभाँति जानते हैं, परन्तु अज्ञानी अपरीक्षकोंको आत्मा रागादिक रूप ही प्रतिभासित होता है । यहाँपर यदि कोई प्रश्न करे कि पहिले जो रागादिक भाव जीवकृत कहे गये थे, उन्हें अब कर्मकृत क्यों कहते हो ? तो इसका समाधान यह है कि रागादिक भाव चेतनारूप हैं, इसलिये इनका कर्त्ता जीव ही है, परन्तु श्रद्धान करानेके लिए इस स्थलपर मूलभूत जीवके शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा रागादिकभाव कर्मके निमित्तसे होते हैं, अतएव कर्मकृत हैं । जैसे भूतगृहीत मनुष्य भूतके निमित्तसे नाना प्रकारकी जो विपरीत चेष्टायें करता है, उनका कर्ता यदि शोधा जावे तो वह मनुष्य ही निकलेगा, परन्तु वे विपरीत चेष्टायें उस मनुष्यके निजभाव नहीं हैं, भूतकृत हैं । इसी प्रकार यह जीव कर्मके निमित्तसे जो नाना प्रकार विपरीत भावरूप परिणमन करता है उन (भावों) का कर्त्ता यद्यपि जीव ही है परन्तु ये भाव जीवके निजस्वभाव न होने से कर्मकृत कहे जाते हैं, अथवा कर्मकृत नाना प्रकारकी पर्य्याय, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, नोकर्म्म, देव, नारकी, मनुष्य, तिर्य्यञ्च, शरीर, संहनन, संस्थानादिक भेद व पुत्र मित्रादि धन धान्यादि भेदोंसे शुद्धात्मा प्रत्यक्ष ही भिन्न है । इसके अतिरिक्त और भी सुनिये—

एक मनुष्य अज्ञानी गुरुके उपदेशसे छोटेसे भोंहरेमें बैठकर भैंसेका ध्यान करने लगा, और अपने को भैंसा मानकर दीर्घ शरीरके चिंतवनमें आकाशपर्यंत सींगोंवाला मानने लगा, तब इस चिन्तामें पड़ा कि भोंहरेमेंसे मेरा इतना बड़ा शरीर किस प्रकार निकल सकेगा ? ठीक यही दशा जीवकी मोहके निमित्तसे हो रही है, जो आपको वर्णादि स्वरूप मानके देवादिक पर्य्यायोंमें आपा मानता है । भैंसा माननेवाला यदि अपनेको भैंसा न माने, तो आखिर मनुष्य बना ही है, इसीप्रकार देवादिक पर्य्यायोंको भी जीव यदि आपा न माने तो अमूर्त्तीक शुद्धात्मा आप बना ही है । सारांश आत्मा कर्मजनित रागादिक अथवा वर्णादिक भावोंसे सदाकाल भिन्न है, तदुक्तम्—"वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः"[१]

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ।।१५।।

१–इस पुरुषके अर्थात् आत्माके वर्णादि रागादि अथवा मोहादि सर्व ही भाव (आत्मासे) भिन्न हैं ।

अन्वयार्थौ—[**विपरीताभिनिवेशं**] विपरीत श्रद्धानको [**निरस्य**] नष्टकर [**निजतत्त्वम्**] निज स्वरूपको [**सम्यक्**] यथावत् [**व्यवस्य**] जानकर [**यत्**] जो [**तस्मात्**] उस अपने स्वरूपसे [**अविचलनं**] च्युत न होना [**स एव**] वह ही [**अयम्**] यह [**पुरुषार्थसिद्ध्युपायः**] पुरुषार्थ की सिद्धिका उपाय है।

भावार्थ—पूर्वकथित कर्मजनित पर्य्यायों को आत्मा मान लेना, इसको ही विपरीत श्रद्धान कहते हैं ? इस विपरीत श्रद्धानके समूल नष्ट करनेको सम्यग्दर्शन, कर्मजनित पर्य्यायोंसे भिन्न भिन्न शुद्धचैतन्य-स्वरूपके यथावत् जाननेको सम्यग्ज्ञान और कर्मजनित पर्य्यायोंसे उदासीन हो निजस्वरूपमें स्थिरीभूत होनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं। तथा इन तीनोंका अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका समुदाय ही कार्य सिद्ध होनेका उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा ।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ।। १६ ।।

अन्वयार्थौ—[**एतत्पदम् अनुसरतां**] इस रत्नत्रयरूप पदवीको अनुसरण करनेवाले अर्थात् प्राप्त हुए [**मुनीनाम्**] महा मुनियोंकी [**वृत्तिः**] [1]वृत्ति [**करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा**] पाप-क्रिया सम्मिश्रित आचारोंसे सर्वदा पराङ्मुख, तथा [**एकान्तविरतिरूपा**] परद्रव्योंसे सर्वदा उदासीन-रूप और [**अलौकिकी**] लोकसे विलक्षण प्रकारकी [**भवति**] होती है।

भावार्थ—महामुनियोंकी प्रवृत्ति जगत्के लोगोंसे सर्वथा निराली होती है। गृहस्थीका आचरण पापक्रियासे मिला हुआ होता है, और ऐसे आचरणों से महामुनि सर्वथा दूर रहते हैं। वह केवल अपने आत्मीक चैतन्य स्वभावका ही अनुभव करते हैं।

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति ।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ।। १७ ।।

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो जीव [**बहुशः**] बारम्बार [**प्रदर्शितां**] दिखलाई हुई [**समस्त-विरतिं**] सकल पापरहित मुनिवृत्तिको [**जातु**] कदाचित् [**न गृह्णाति**] ग्रहण न करे तो [**तस्य**] उसे [**एकदेशविरतिः**] एकदेश पापक्रियारहित गृहस्थाचारको [**अनेन बीजेन**] इस हेतुसे [**कथनीया**] समझावे अर्थात् कथन करे।

भावार्थ—जो जीव उपदेश सुननेका अभिलाषी हो, उसे पहिले मुनिधर्मका उपदेश देना चाहिये और यदि वह मुनिधर्म ग्रहण करने योग्य सामर्थ्य न रखता हो, तो तत्पश्चात् श्रावक-धर्मका उपदेश देवे, क्योंकि—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ।। १८ ।।

१—अन्तरंग परिणाम—वर्तन

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो [**अल्पमतिः**] तुच्छ बुद्धि उपदेशक [**यतिधर्मम्**] मुनिधर्मको [**अकथयन्**] नहीं कह करके [**गृहस्थधर्मम्**] श्रावक–धर्मका [**उपदिशति**] उपदेश देता है, [**तस्य**] उस उपदेशको [**भगवत्प्रवचने**] भगवतके सिद्धान्तमें [**निग्रहस्थानम्**] दंड देनेका स्थान [**प्रदर्शितं**] दिखलाया है ।

भावार्थ—जो उपदेशदाता पहिले मुनि–धर्मको न सुनाकर श्रावक–धर्मका व्याख्यान देता है, उसको जिनमतमें प्रायश्चित्तरूप दंड देने योग्य बतलाया है । क्योंकि—

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ।। १९ ।।

अन्वयार्थौ - [**यतः**] जिस कारणसे [**तेन**] उस [**दुर्मतिना**] दुर्बुद्धिके [**अक्रमकथनेन**] क्रमभंग कथनरूप उपदेश करनेसे [**अतिदूरम्**] अत्यन्त दूरतक [**प्रोत्सहमानोऽपि**] उत्साहवाला हुआ भी [**शिष्यः**] शिष्य [**अपदे अपि**] तुच्छ स्थानमें ही [**संप्रतृप्त**] संतुष्ट होकर [**प्रतारितः**] प्रतारित या ठगाया हुआ [**भवति**] होता है ।

भावार्थ—किसी शिष्यको धर्मका इतना उत्साह था कि यदि उसे मुनि-धर्मका उपदेश मिलता तो मुनिपदवी अंगीकार कर लेता । परन्तु उपदेशदाता उसे पहिले ही श्रावक-धर्मका उपदेश देने लगा, तो ऐसे समयमें वह श्रावक-धर्मही ग्रहण करनेमें संतुष्ट होगया । सारांश पहिले मुनि-धर्मका उपदेश करना चाहिए ।

श्रावकधर्मव्याख्यान

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति ।। २० ।।

अन्वयार्थौ—[**एवं**] इस प्रकार[1] [**तस्यापि**] उस गृहस्थको भी [**यथाशक्ति**] अपनी शक्तिके अनुसार [**सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः**] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन भेदरूप [**मोक्षमार्गः**] मुक्तिका मार्ग [**नित्यम्**] सर्वदा [**निषेव्यः**] सेवन करने योग्य [**भवति**] होता है ।

भावार्थ—मुनि तो मोक्षमार्गका सेवन पूर्णरूपसे करते ही हैं । किन्तु गृहस्थको भी यथाशक्ति (थोड़ा बहुत) सेवन करना चाहिये ।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ।। २१ ।।

१–जो आगे कहेंगे ।

अन्वयार्थौ—[**तत्रादौ**] इन तीनोंमें प्रथम [**अखिलयत्नेन**] समस्त प्रकारके उपायोंसे [**सम्यक्त्वं**] सम्यग्दर्शन [**समुपाश्रयणीयम्**] भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये [**यतः**] क्योंकि [**तस्मिन् सति एव**] इसके होते हुए ही [**ज्ञानं**] सम्यग्ज्ञान [**च**] और [**चरित्रं**] सम्यक्चारित्र [**भवति**] होता है।

भावार्थ—सम्यक्त्वके बिना ग्यारह अंग पर्यन्त पठन किया हुआ ज्ञान भी 'अज्ञान' कहलाता है, तथा महाव्रतादिकोंकी साधनासे अन्तिम ग्रैवेयकपर्यन्त बंधयोग्य विशुद्ध परिणामोंसे भी असंयमी कहलाता है, परन्तु सम्यक्त्वसहित थोड़ासा जानना भी सम्यग्ज्ञानको और अल्पत्याग भी सम्यक्चारित्रको प्राप्त होता है। जैसे अंकरहित बिन्दी (शून्य) कुछ भी कार्यसाधक नहीं होती और वही अङ्कसहित होने पर दशगुणमानवर्द्धक हो जाती है, इसी तरह सम्यक्त्वरहित ज्ञान और चारित्र व्यर्थ ही हैं, परन्तु सम्यक्त्वपूर्वक अल्पज्ञान और अल्प चारित्र भी मोक्षके साधक हो जाते हैं। अतएव सबसे प्रथम सम्यक्त्वको ही अङ्गीकार करना चाहिये पश्चात् अन्य साधनोंको।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥२२॥

अन्वयार्थौ—[**जीवाजीवादीनां**] जीव अजीव आदिक [**तत्त्वार्थानां**] तत्त्वरूप पदार्थोंका [**विपरीताभिनिवेशविविक्तम्**] विपरीत आग्रहरहित अर्थात् औरका और समझनेरूप मिथ्याज्ञानसे रहित [**श्रद्धानं**] श्रद्धान अर्थात् दृढ़ विश्वास [**सदैव**] निरन्तर ही [**कर्त्तव्यम्**] करना चाहिये। क्योंकि [**तत्**] वह श्रद्धान ही [**आत्मरूपं**] आत्माका रूप है।

भावार्थ—तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण है, और वह श्रद्धान 'सामान्यरूप' और 'विशेषरूप' दो प्रकारका है। परभावोंसे भिन्न अपने चैतन्यस्वरूपको आपरूप श्रद्धान करना **सामान्य तत्त्वार्थश्रद्धान** है। यह नारक तिर्यञ्चादिक समस्त सम्यग्दृष्टी जीवोंके पाया जाता है, और जीव अजीवादिक सप्त तत्त्वोंकी विशेषतासे जानकर श्रद्धान करना **विशेष तत्त्वार्थश्रद्धान** है। वह मनुष्य देवादिक बहुश्रुत (विशेषज्ञानी) जीवोंके पाया जाता है, परन्तु राजमार्गसे ये दोनों श्रद्धान सप्त तत्त्वोंके जाने बिना नहीं हो सकते। क्योंकि--जो तत्त्वोंको न जाने तो श्रद्धान किसका करे ? यहाँ प्रसङ्गानुसार तत्त्वोंका वर्णन करना उचित होगा। अतएव उनका थोड़ासा स्वरूप दिया जाता है:—

१–जीवतत्त्व—जो चैतन्यलक्षण सहित विराजमान हो, उसे जीव कहते हैं। इसके शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र ये तीन भेद होते हैं।

(१) शुद्धजीव—जिन जीवोंके सम्पूर्ण गुण पर्य्याय अपने निजभाव को परिणमते हैं, अर्थात् केवलज्ञानादि गुण शुद्धपरिणति पर्य्यायमें विराजमान होते हैं, उन्हें शुद्धजीव कहते हैं।

(२) अशुद्धजीव—जिन जीवोंके सम्पूर्ण गुण पर्य्याय विकार भावको प्राप्त हो रहे हों उन्हें अशुद्धजीव कहते हैं, अर्थात् जिनके ज्ञानादिक गुण तो आवरणसे आच्छादित हो रहे हों, और परिणति रागादिरूप परिणमन कर रही हो।

(३) मिश्रजीव—जिन जीवोंके सम्यक्त्वादि गुण कुछ विमलरूप हुए हों और कुछ समल हों, अर्थात् ज्ञानादि गुणोंकी कुछ शक्तियाँ शुद्ध हुई हों, अवशेष सर्व अशुद्ध हों और परिणति जिनकी शुद्ध परिणमन करती हो, उन्हें मिश्रजीव कहते हैं ।

२–**अजीवतत्त्व**—जो पदार्थ चैतन्यगुणरहित हो, उसे अजीव कहते हैं । इसके पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ।

(१) पुद्गल—जो द्रव्य स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन चार गुणोंसे संयुक्त हो उसे पुद्गल कहते हैं । इसके भेद दो हैं—अणु और स्कन्ध । एकाकी अविभागी परमाणुको **अणु** और अनेक अणुओंके एकत्वपरिणामको **स्कन्ध** कहते हैं । पुद्गलद्रव्यके अणु और स्कन्धोंके सिवाय १ स्थूलस्थूल, २ स्थूल, ३ स्थूलसूक्ष्म, ४ सूक्ष्मस्थूल, ५ सूक्ष्म और ६ सूक्ष्मसूक्ष्म, ये छह भेद और भी हैं । **स्थूलस्थूल**—जो काष्ठ पाषाणादिकोंके समान छेदे भेदे जा सकें, **स्थूल**—जो जल दुग्धादि द्रव पदार्थोंके समान छिन्न भिन्न होनेपर पुनः मिल सकें, **स्थूलसूक्ष्म**—जो आतप चांदनी छायादि पर्यायके समान दृष्टिगत होवें, परन्तु पकड़े न जा सकें, **सूक्ष्मस्थूल**—जो शब्द गंधादिके समान दिखाई न देवें, और पकड़े न जा सकें, परन्तु श्रवण नासिकादि अन्य इन्द्रियों से ग्रहण किये जा सकें, **सूक्ष्म**—जो कार्म्माणवर्गणादिक बहुत परमाणुओं के स्कन्ध हों, और **सूक्ष्मसूक्ष्म**[१]—अविभागी परमाणुओं को कहते हैं ।

(२) धर्म—जो द्रव्य जीव और पुद्गलकी गतिमें सहकारी हो उसे धर्मद्रव्य कहते हैं । यह लोकप्रमाण अमूर्त्तीक एकद्रव्य है ।

(३) अधर्म—जो द्रव्य जीव और पुद्गलकी स्थितिमें सहकारी हो, उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं । यह भी लोकप्रमाण अमूर्त्तीक एकद्रव्य है ।

(४) आकाश—जो द्रव्य जीवादिक समस्त पदार्थों को[२] अवकाश देनेमें समर्थ हो, उसे आकाश कहते हैं । इसके **लोकाकाश** और **अलोकाकाश** ये दो भेद हैं । जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य[३] पाये जावें, उसे लोकाकाश कहते हैं, और जहां केवल आकाश पाया जावे उसे अलोकाकाश कहते हैं । इन दोनोंका सत्त्व पृथक् पृथक् नहीं है, एक ही द्रव्य है ।

(५) काल—जो द्रव्य सम्पूर्ण द्रव्योंके परिवर्तन करनेमें समर्थ है और जो वर्तनाहेतुत्व लक्षणसे संयुक्त हो, उसे कालद्रव्य कहते हैं । यह लोकके एक एक प्रदेशपर स्थित एक एक अणुमात्र असंख्यात द्रव्य हैं । कालद्रव्यके परिणमन निमित्तसे **आवलिकादि** व्यवहारकाल होता है ।

३. **आस्रवतत्त्व**—जीवके रागादिक परिणामोंसे मन, वचन, कायके योगोंद्वारा पुद्गलस्कन्धोंके आनेको आस्रव कहते हैं ।

१–कहीं कहीं कर्मवर्गणाओंसे अतिसूक्ष्म द्व्यणुकस्कन्धपर्यन्तको भी कहा है । २–सात तत्त्व और पुण्य पाप ये दो तत्त्व मिलकर नव पदार्थ होते हैं । ३–धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छह द्रव्य हैं और कालरहित अर्थात् धर्म अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव इन पांचकी पंचास्तिकाय संज्ञा होती है ।

४. **बन्धतत्त्व**—जीवकी रागादिकरूप अशुद्धताके निमित्तसे आये हुए कर्मवर्गणाओंका ज्ञानावरणादिरूप स्वस्थिति सहित अपने रस संयुक्त आत्मप्रदेशोंसे सम्बन्धरूप होना बंधतत्त्व कहलाता है।

५. **संवरतत्त्व**—जीवके रागादिक अशुद्ध परिणामोंके अभावसे कर्मवर्गणाओंके आस्रवका रुकना संवरतत्त्व कहलाता है।

६. **निर्जरातत्त्व**—जीवके शुद्धोपयोगके बलसे पूर्वसंचित कर्मवर्गणाओंके एकोदेश नाश होनेको निर्जरा कहते हैं।

७. **मोक्षतत्त्व**—जीवके कर्मोंके सर्वथा नाश होने और निज स्वभावके प्रकट होनेको मोक्ष कहते हैं।

उल्लिखित सप्त तत्त्वोंके अर्थका उक्त प्रकारसे यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। यहाँ पर यदि कोई यह प्रश्न करे कि सम्यग्दर्शनके उपयुक्त लक्षणमें अव्याप्तिदूषणका प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषय कषायकी तीव्रतासंयुक्त होता है, उस समय उसका यह श्रद्धान नहीं रहता। लक्षण ऐसा कहना चाहिये 'जो लक्ष्यमें निरन्तर पाया जावे' तो इसका उत्तर नीचे लिखे अनुसार जानकर समाधान करना चाहियेः—

जीवके **श्रद्धानरूप** और **परिणमनरूप** दो भाव हैं, इनमें से श्रद्धानरूप सम्यक्त्वका लक्षण है, और परिणमनरूप चारित्रका लक्षण है। जो सम्यग्दृष्टि जीव उस विषय कषायकी तीव्रतामें परिणमन स्वरूप होता है, न कि श्रद्धानरूप, उसका तत्त्वार्थमें यथावत् विश्वास है, इसका स्पष्टीकरण नीचे लिखे उदाहरणसे शीघ्र हो जावेगाः—

एक गुमाश्ता जो किसी सेठकी दूकानपर नौकर है, अपने हृदयमें सेठकी सम्पत्तिको पृथक् जानता हुआ भी उसके हानि-लाभमें हर्ष विषाद करता है, उसे निरन्तर मेरी मेरी कहकर सम्बोधित करता है, और अन्तरंगमें जो परत्त्वका विश्वास है, उसे कभी बाहिर नहीं लाता है, परन्तु यह विश्वास उसके हृदयमें शक्तिरूप रहता है, इसलिये जिस समय सेठके सन्मुख अपना हिसाब पेश करता है, उस समय अन्तरंगका विश्वास प्रत्यक्ष प्रकट कर देता है। जैसे गुमाश्ता इस नौकरीके कार्यको यद्यपि पराधीन दुःख जानता है, परन्तु धनसे शक्तिहीन होनेसे आजीविकाके वश लाचारीसे उसे दास-कर्म करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी जीव उदयमें आये हुए कर्मोंके परिपाकको भोगता है। वह अपने हृदयमें इसे औदयिक ठाठ तथा अपने स्वरूपको भिन्न जानता हुआ भी इष्ट अनिष्ट संयोगमें हर्ष विषाद करता है। उस औदयिक सम्बन्धको बाह्यमें मेरा मेरा भी कहता है, और अपनी प्रतीतिका बारम्बार स्मरण भी नहीं करता, क्योंकि वह प्रतीति कर्मके उदयमें शक्तिरूप रहती है, परन्तु जिस समय उस कर्मका और अपने स्वरूपका विचार करता है, उस समय अन्तरंगकी प्रतीतिको ही प्रकट करता है। ज्ञानी जीव कर्मके उदयको यद्यपि पराधीन दुःख जानता है, परन्तु अपनी शुद्धोपयोगरूप शक्तिकी हीनताके कारण पूर्वबद्ध कर्मोंके वश हो लाचारीसे कर्मके औदयिकभावोंमें प्रवृत्ति करता है।

इस भाँति सम्यक्त्वधारी जीवके तत्त्वार्थश्रद्धान सामान्यरूप और विशेषरूप शक्तिअवस्था अथवा व्यक्तअवस्थाको लिये निरन्तर पाया जाता है। यहाँपर प्रश्न उठता है कि, "इस लक्षणमें अव्याप्तिदूषणका

तो अभाव है परन्तु अतिव्याप्तिदूषण अवश्य आता है; क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत तत्त्वोंको ही मानते हैं, अन्यमत कल्पित तत्त्वोंको नहीं मानते। लक्षण ऐसा कहना चाहिये "जो लक्ष्यके बिना अन्य स्थानपर न पाया जावे" इसका समाधान इस प्रकार है कि:—

द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत तत्त्वोंको ही मानते हैं परन्तु विपरीताभिनिवेशसंयुक्त शरीराश्रित क्रियाकांडको अपना जानते हैं, (यहाँ अजीव तत्त्वमें जीवत्व श्रद्धान हुआ) और आस्रव बंध रूप शील संयमादि परिणामोंको संवर निर्जरारूप मानते हैं। वे यद्यपि पापसे विरक्त हुए हैं, परन्तु पुण्यमें उपादेय बुद्धि रखते हैं, अतएव उनके तत्त्वार्थका यथार्थ श्रद्धान नहीं हुआ।

सम्यक्त्वके आठ अंगोंका वर्णन।

१. निःशङ्कित[1]

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्त्तव्या ॥२३॥

अन्वयार्थौ—[**अखिलज्ञैः**] सर्वज्ञदेवद्वारा [**उक्तं**] कहा हुआ [**इदम्**] यह [**सकलम्**] सारा [**वस्तुजातम्**] वस्तुसमूह [**अनेकान्तात्मकम्**] अनेक स्वभावरूप [**उक्तं**] कहा गया है सो [**किमु सत्यम्**] क्या सत्य है? [**वा असत्यं**] या झूठ है? [**इति**] ऐसी [**शंका**] शंका [**जातु**] कदाचित् भी [**न**] नहीं [**कर्त्तव्या**] करनी चाहिये।

भावार्थ—जिनप्रणीत पदार्थोंमें सन्देह नहीं करना चाहिये; क्योंकि जिनभगवान् अन्यथावादी नहीं होते, इसको निःशङ्कित अंग कहते हैं।

२. निःकाङ्क्षित[2]

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकाङ्क्षेत् ॥२४॥

अन्वयार्थौ—[**इह**] इस [**जन्मनि**] लोकमें [**विभवादीनि**] ऐश्वर्य्य सम्पदा आदिको [**अमुत्र**] परलोकमें [**चक्रित्वकेशवत्वादीन्**] चक्रवर्ती नारायणादि पदोंको [**च**] और [**एकान्तवाददूषितपरसमयान्** [एकान्तवादसे दूषित अन्य धर्मोंको [**अपि**] भी [**न**] नहीं [**आकाङ्क्षेत्**] चाहे।

भावार्थ—सम्यक्त्वधारी जीव इसलोकसम्बन्धी पुण्यके फलोंको आकांक्षा नहीं करता है और न परलोकसम्बन्धी वैभव चाहता है। क्योंकि, वह पुण्यके फलरूप इन्द्रियोंके विषयोंको आकुलताके निमित्त से दुःखरूप ही जानता है, इसको निःकांक्षित अर्थात् वाञ्छा रहित अंग कहते हैं।

१—इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा। इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥११॥
—(स्वामी समंतभद्राचार्यकृत रत्नकरंडश्रावकाचार) अर्थात्—तत्त्व यही हैं, ऐसे ही हैं, अन्य नहीं हैं, अथवा और प्रकार नहीं हैं, ऐसी निष्कम्प खड्गधारके पानीके समान सन्मार्गमें संशय रहित रुचि या विश्वास होनेको निश्शंकित अंग कहते हैं।

२—कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥ (र० क०)
यहां कांक्षाका अर्थ वांछा अथवा चाह है। चाह किसकी? विषयोंकी, विषय-साधनोंकी। अर्थात्—कर्मके अधीन, अंतसहित, उदयमें दुःखमिश्रित और पापके वीजरूप सुखमें अनित्यताका श्रद्धान होना निःकांक्षित अंग है।

३. निर्विचिकित्सा[1]

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ।।२५।।

अन्वयार्थौ—[**क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु**] भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि [**नानाविधेषु**] नाना प्रकारके [**भावेषु**] भावोंमें और [**पुरीषादिषु**] विष्टादिक [**द्रव्येषु**] पदार्थोंमें [**विचिकित्सा**] ग्लानि [**नैव**] नहीं [**करणीया**] करना चाहिये।

भावार्थ—पापके उदयसे अथवा दुःखदायक भावोंके संयोगसे उद्वेग रूप नहीं होना चाहिये, क्योंकि उदयकार्य अपने वशका नहीं है, और इससे अपने अमूर्तीक आत्माका घात भी नहीं होता। विष्टादिक निंद्य अपवित्र वस्तुओंको देखकर अथवा स्पर्श होनेपर ग्लानि नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है, और शरीर तो जिसमें आत्माका निवास है, इससे भी अधिकतर निंद्य वस्तुमय है। इस ग्लानि रहित रूप अंगका नाम निर्विचिकित्सा है।

४. अमूढ़दृष्टित्व[2]

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ।।२६।।

अन्वयार्थौ—[**लोके**] लोकमें [**शास्त्राभासे**] शास्त्राभासमें[3] [**समयाभासे**] धर्माभासमें [**च**] और [**देवताभासे**] देवताभासमें [**तत्त्वरुचिना**] तत्त्वोंमें रुचि रखनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुषको [**नित्यमपि**] सदा ही [**अमूढदृष्टित्वम्**] मूर्खतारहित दृष्टित्व अर्थात् श्रद्धान [**कर्त्तव्यम्**] करना चाहिये।

भावार्थ—लोकके जन विपरीतरूप प्रवृत्ति करते हैं, उनकी देखादेखी सम्यग्दृष्टिको न चलना चाहिये। ज्ञानसे विचारकर कार्य करना उचित है। इस ही प्रकार अन्य कपोलकल्पित ग्रन्थ सद्ग्रन्थोंके समान मालूम हों, झूठे मत सच्चे सरीखे मालूम हों, झूठे देव सुदेव समान मालूम हों, तो धोखेमें न आना चाहिये, और उनमें श्रद्धान न करना चाहिये। सारांश ज्ञानसे भ्रष्ट होनेके कारणोंसे हमेशा सावधान रहना उचित है। अमूढ़दृष्टि शब्दमें 'दृष्टि' शब्दका अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। मूर्खतापूर्ण या विवेकरहित विश्वासको मूढ़दृष्टि कहते हैं। सम्यग्दृष्टिकी ऐसी कोई प्रवृत्ति न होनी चाहिए जो इस मूढ़दृष्टिपनेको प्रकट करती हो। सम्यक्त्वका यह अमूढ़दृष्टित्व नामक चौथा अंग है।

१–स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते। निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ।।१३।। (र०क०)

अर्थात्—रत्नत्रयसे पवित्र किन्तु स्वाभाविक अपवित्र शरीरमें ग्लानि नहीं करके उसके गुणोंमें प्रीति करना इसको निर्जुगुप्सा कहते हैं।

२–कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेप्यसम्मतिः। असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ।।१४।। (र० क०)

अर्थात्—दुःखदायक कुत्सित मार्गोंमें या धर्मोंमें और कुमार्गोंमें स्थित पुरुषोंमें मनसे प्रमाणता, कायसे प्रशंसा, और वचनसे स्तुति न करनेको अमूढदृष्टि कहते हैं।

३–आभास—यथार्थमें जो पदार्थ जैसा नहीं है, वह भ्रमबुद्धिसे वैसा दिखलाई देने लगे, जैसे मिथ्यादृष्टियोंके बनाये हुए शास्त्र यथार्थमें शास्त्र नहीं हैं, परन्तु भ्रमसे शास्त्र प्रतीत होवें, यह शास्त्राभास है।

५. उपगूहन[1]

धर्मोऽभिवर्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ।। २७ ।।

अन्वयार्थौ—[**उपबृंहणार्थम्**] उपबृंहण नामक गुणके अर्थ [**मार्दवादिभावनया**] मार्दव क्षमा संतोषादि भावनाओंके द्वारा [**सदा**] निरन्तर [**आत्मनो धर्मः**] अपने आत्माके धर्म अर्थात् शुद्ध-स्वभावको [**अभिवर्धनीयः**] वृद्धिगत करना चाहिये और [**परदोषनिगूहनमपि**] दूसरोंके दोषोंको गुप्त रखना भी [**विधेयम्**] कर्त्तव्य-कर्म है ।

भावार्थ—उपबृंहण शब्दका अर्थ 'बढाना' है, अतएव अपने आत्माका धर्म बढ़ाना कहा गया, तथा इस अंगको उपगूहन भी कहते हैं, जिसका अर्थ ढाँकना है । इससे पराये दोषोंका ढाँकना लक्षित होता है । क्योंकि दोषोंके प्रकट करनेसे दोषी पुरुषकी आत्माको अत्यन्त कष्ट होता है । कोमलता सरलता आदि भावनाओंसे आत्माके धर्मकी बढ़वारी होती है । और पराये दोषोंके छिपानेसे भी आत्मोन्नति होती है, उस दूसरे मनुष्यका भी उससे बहुत सुधार हो सकता है । अतएव यह उपबृंहण नामक पाँचवाँ अंग है ।

६. स्थितिकरण[2]

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ।।२८।।

अन्वयार्थौ–[**कामक्रोधमदादिषु**] काम, क्रोध, मद, लोभादि विकार [**न्यायात् वर्त्मनः**] न्यायमार्गसे अर्थात् धर्ममार्गसे [**चलयितुम्**] विचलित करनेके लिए [**उदितेषु**] प्रकट हुए हों तब [**श्रुतम्**] श्रुतानुसार [**आत्मनः परस्य च**] अपनी और दूसरोंकी [**स्थितिकरणम्**] स्थिरता [**अपि**] भी [**कार्यम्**] करनी चाहिए ।

भावार्थ—यदि अपने परिणाम धर्मसे भ्रष्ट होते हों तो आपको और यदि दूसरेके होते हों तो दूसरेको जिस प्रकार हो सके धर्ममें दृढ़ करना, यह सम्यक्त्वका स्थितिकरण नाम छट्ठा अंग है ।

७. वात्सल्य[3]

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ।।२९।।

१–स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् । वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ।।१५।। (र० क०)
अर्थात्—"स्वयंशुद्ध मोक्षमार्गकी—अशक्त और अज्ञानी जीवोंके आश्रयसे होती हुई निन्दाके दूर करनेको उपगूहन कहते हैं ।

२–दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः । प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ।।१६।। (र० क०)
अर्थात्—सम्यग्दर्शनसे और सम्यक्चारित्रसे चलायमान होते हुए जीवोंको धर्मवत्सल विद्वानोंद्वारा स्थिरीभूत किये जानेको स्थितिकरण कहते हैं ।

३–स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा । प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ।।१७।। (र० क०)
अर्थात्—अपने समूहके धर्मात्मा जीवोंका समीचीन भावसे कपट रहित यथायोग्य सत्कार करनेको वात्सल्य कहते हैं ।

अन्वयार्थौ—[**शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने**] मोक्षसुखरूप सम्पदाके कारणभूत [**धर्मे**] धर्ममें, [**अहिंसायां**] अहिंसामें [**च**] और [**सर्वेष्वपि**] समस्त ही [**सधर्मिषु**] साधर्मी जनोंमें [**अनवरतम्**] लगातार [**परमं**] उत्कृष्ट [**वात्सल्यम्**] वात्सल्य व प्रीतिको [**आलम्ब्यम्**] अवलम्बन करना चाहिये।

भावार्थ—गोवत्स सरीखी प्रीतिको वात्सल्य कहते हैं। जैसे गाय अपने बछड़ेपर अतिशय प्यार रखती है, उसी प्रकारसे धर्ममें और धर्मात्माओंमें भी वैसी ही प्रीति रखनी चाहिए। यह सम्यक्त्वका वात्सल्य नामक सातवाँ अंग है।

८. प्रभावना[1]

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ।। ३० ।।

अन्वयार्थौ—[**सततम् एव**] निरन्तर ही [**रत्नत्रयतेजसा**] रत्नत्रयके तेजसे [**आत्मा**] अपने आत्माको [**प्रभावनीयः**] प्रभावनायुक्त करना चाहिये [**च**] और [**दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः**] दान, तप, जिनपूजन, और विद्याके अतिशयसे अर्थात् इनकी बढ़वारी करके [**जिनधर्मः**] जिनधर्म (प्रभावनीयः) प्रभावनायुक्त करना चाहिये।

भावार्थ—प्रभाव अतिशय या महिमा प्रकट करनेको 'प्रभावना' कहते हैं, सो अपनी आत्माकी तो प्रभावना रत्नत्रयके तेजसे प्रकट होती है और जिनधर्मकी महिमा जी खोलकर दान देने, तप करने, समारोह सहित पूजन विधान करने और पाठशाला, विद्यालय, सरस्वतीभवन आदि स्थापित करनेसे एवं कभी कभी शूरता दिखानेसे प्रकट होती है। सम्यक्त्वका यह प्रभावना नामक आठवां अंग है।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचिते पुरुषार्थसिद्ध्युपाये अपरनाम जिनप्रवचनरहस्यकोषे सम्यग्दर्शनवर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः।

२—सम्यग्ज्ञानव्याख्यान।

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन ।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ।। ३१ ।।

अन्वयार्थौ—[**इति**] इस प्रकार [**आश्रितसम्यक्त्वैः**] आश्रित है सम्यक्त्व जिनके ऐसे [**आत्महितैः**] आत्माके हितकारी पुरुषोंसे [**नित्यम्**] सर्वदा [**आम्नाययुक्तियोगैः**] जिनागमकी

१—**अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्। जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ।।१७।।** (र. क.)
अर्थात्—अज्ञानान्धकारकी व्याप्तिको जैसे हो सके वैसे दूर करके जिनशासनके माहात्म्यको प्रकाश करना प्रभावना है।

परम्परा व युक्ति अर्थात् प्रमाण नयके अनुयोगोंद्वारा [**निरूप्य**] विचार करके [**यत्नेन**] यत्नपूर्वक [**सम्यग्ज्ञानं**] सम्यग्ज्ञान [**समुपास्यं**] भले प्रकार सेवन करने योग्य है ।

भावार्थ—पदार्थका जो स्वरूप जिनागमकी परम्परासे मिलता है, उसे प्रमाणपूर्वक अपने उपयोग में स्थिरकर यथावत् जानना यही सम्यग्ज्ञानकी यथार्थ सेवा है ।

प्रमाण नयका संक्षिप्त स्वरूप ।

प्रमाण

'तत्प्रमाणे,' तत्त्वार्थसूत्रके इस वचनसे सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, और प्रमाणके मुख्य दो भेद हैं, पहला प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष । यहाँपर पहिले प्रत्यक्षप्रमाणके भेदोपभेद बतलाते हैं—

प्रत्यक्षप्रमाण के दो भेद हैं—पहला **पारमार्थिकप्रत्यक्ष,** दूसरा **सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष** । जो ज्ञान केवल आत्मा ही के आधीन रहकर जितना अपना विषय है, उतना विशुद्धतासे स्पष्ट जानता है, वह पारमार्थिकप्रत्यक्ष है और जो नेत्रादिक इन्द्रियोंसे रूप रसादिकको साक्षात् ग्रहणकालमें जानता है, वह **सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष** है । पारमार्थिकप्रत्यक्ष दो प्रकारका है । **एकदेशपारमार्थिकप्रत्यक्ष** और **सर्वदेश-पारमार्थिकप्रत्यक्ष** । अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान देशप्रत्यक्ष और केवलज्ञान सर्वप्रत्यक्ष है । **सांव्य-वहारिकप्रत्यक्ष** व्यवहार दृष्टिमें प्रत्यक्ष कहा गया है; परन्तु परमार्थदृष्टिमें परोक्ष ही कहा जाता है, क्यों-कि इस ज्ञानसे सर्वथा स्पष्ट जानना नहीं होता । जैसे–किसी वस्तुको नेत्रसे देखते ही ज्ञान हुआ कि, यह वस्तु सफेद है । यद्यपि उस वस्तुमें मलिनताका भी मिलाप है परन्तु स्पष्ट प्रतिभासित नहीं हो सका कि उनमें कितने अंश सफेदीके हैं और कितने मलिनताके हैं । अतएव यह व्यवहार मात्र प्रत्यक्ष है, यथार्थमें परोक्ष है ।

परोक्षप्रमाण—जो इंद्रियजन्य ज्ञान अपने विषयको स्पष्ट न जाने उसे परोक्षप्रमाण कहते हैं । मतिज्ञान और श्रुतज्ञानसे जो कुछ जाना जाता है, वह सब परोक्षप्रमाण है । इसके मुख्य पाँच भेद हैं । १ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान, और ५ आगम ।

१ **स्मृति**—पूर्वमें जो पदार्थ जाना था उसके स्मरणमात्रको स्मृति कहते हैं ।

२ **प्रत्यभिज्ञान**[1]—पूर्व वार्ताका स्मरणकर प्रत्यक्ष पदार्थके साथ जोड़कर निश्चय करनेको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं—जैसे किसी पुरुषने पहिले सुना था कि, **गवय** (रोझ) गाय सरीखा होता है, और फिर वह कदाचित् जंगलमें **गवय** देखकर जाने कि जो गाय सरीखा गवय जानकर सुना था वह यही है । इस ज्ञानमें 'वह' इतने मात्र ज्ञानको स्मृति, 'यह' इतनेको अनुभव, और स्मृति तथा अनुभवसम्मिश्रित 'वह यही है' इतने ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं ।

३ **तर्क**[2]—व्याप्तिज्ञानको तर्क कहते हैं, और एकके विना एक न होवे इसे व्याप्ति कहते हैं, जैसे अग्निके विना धुआँ नहीं रहता, आत्माके विना चेतना नहीं रहती, इसी व्याप्तिका जानना तर्क कहलाता है ।

१–तत्रोल्लेखि ज्ञानं स्मृतिः, इन्द्रियग्राहिवर्तमानकालावच्छिन्नपदार्थज्ञानमनुभवः, एतदुभयसंकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमिति. २–व्याप्यव्यापकसम्बन्धो हि व्याप्तिस्तद्ज्ञानं तर्क इति ।

४ अनुमान—सङ्केतों (चिह्नों) से पदार्थके निश्चय करनेको अनुमान कहते हैं, जैसे किसी पर्वतमेंसे धूम निकलते हुए देखकर निश्चय करना कि यहाँ अग्नि है।

५ आगम—आप्त-वचनोंके निमित्तसे पदार्थके निश्चय करनेको आगम कहते हैं। जैसे शास्त्रोंसे लोकादिकका स्वरूप जानना।

नय

ऊपर कहे हुए प्रमाणके अंश को ही **नय** कहते हैं, अर्थात् प्रमाणद्वारा ग्रहण किये हुये पदार्थके एक एक धर्मको मुख्यतासे जो अनुभव कराता है वह नय है। इसके दो भेद हैं, पहला द्रव्यार्थिकनय और दूसरा पर्य्यार्थिकनय।

द्रव्यार्थिकनय—जो नय द्रव्यकी मुख्यतासे पदार्थका अनुभवन करावे उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। इसके ३ उत्तर भेद हैं। १ नैगम, २ संग्रह और ३ व्यवहार।

१. नैगम—संकलपमात्रसे पदार्थके जाननेको नैगम नय कहते हैं, जैसे कोई मनुष्य कठैती (काठका वर्तन विशेष) के लिये काष्ठ लानेको जाता था उससे किसीने पूछा कि भाई, कहाँ जाते हो ? उसने कहा कि कठौतीके लिये जाता हूं। यहाँपर विचारना चाहिये कि यद्यपि जहाँ वह जाता है, वहाँ उसे कठौती नहीं मिलेगी, परन्तु उसके चित्तमें यह है कि मैं काष्ठ लाकर उसकी कठौती ही बनाऊँगा, इसका कहीं भूत और कहीं भविष्यत्काल विषय है।

२. संग्रह—सामान्यरूपसे पदार्थके ग्रहण करनेको संग्रह कहते हैं। जैसे छह द्रव्योंके समूहको द्रव्य कहना।

३ व्यवहार—सामान्यरूपसे कहे हुए विषयको विशेष कहना, इसे व्यवहार कहते हैं, जैसे द्रव्यके ६ भेद करना।

पर्य्यायार्थिकनय—जो नय द्रव्यके स्वरूपसे उदासीन होकर पर्य्यायकी मुख्यता पर पदार्थका अनुभवन कराता है, उसे पर्य्यायार्थिकनय कहते हैं—इसके १ऋजुसूत्र, २ शब्द, ३ समभिरूढ और ४ एवंभूत ये चार भेद हैं।

१ ऋजुसूत्र—जिस नयसे वर्तमान पर्य्यायमात्रका ग्रहण किया जावे, उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे देवको देव और मनुष्यको मनुष्य कहना।

२ शब्द—व्याकरणादि द्वारा शब्दके लिङ्ग वगैरहके द्वारा परस्परके वाच्य पदार्थोंमें भेद न मानना उसे शब्दनय कहते हैं।

३ समभिरूढ—पदार्थमें मुख्यतासे एक अर्थके आरूढ करनेको समभिरूढ कहते हैं, जैसे 'गच्छतीति गौः' इस वाक्यसे जो गमन करे वही गाय होती है, परन्तु सोती हुई व बैठी हुईको भी गाय कहना यह समभिरूढनयका विषय है।

४ एवंभूत—वर्तमान क्रिया जिस प्रकार हो उसी प्रकार कहनेको एवंभूत कहते हैं, अर्थात् जिस समय चलती हुई हो उसी समय गाय कहना, सोती हुई व बैठी अवस्थामें गाय नहीं कहना।

इस प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्य्यायार्थिक दोनोंके मिलकर सात भेद नयके होते हैं। ऊपर कहे हुए प्रमाण और नयके संयोगको "नयप्रमाणाभ्याम् युक्तिः" इति वचनात् (इस वचनसे) युक्ति कहते हैं। इस प्रकार प्रमाण और नयका संक्षिप्त कथन "प्रमाणनयैरधिगमः" (पदार्थोंका यथार्थज्ञान प्रमाण नयों से ही होता है) सूत्रपर ध्यान देकर ही किया गया है, और इसका आगे काम भी बहुत पड़ेगा।

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थौ—[**दर्शनसहभाविनोपि**] सम्यग्दर्शनके साथ उत्पन्न होनेपर भी [**बोधस्य**] सम्यग्ज्ञान का [**पृथगाराधनम्**] जुदा ही आराधन करना [**इष्टं**] ठीक अर्थात् कल्याणकारी है, [**यतः**] क्योंकि [**अनयोः**] इन दोनोंमें अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें [**लक्षणभेदेन**] लक्षणभेदसे [**नानात्वं**] भिन्नता [**संभवति**] संभव होती है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनका लक्षण यथार्थ श्रद्धान है और सम्यग्ज्ञानका लक्षण यथार्थ जानना है, इसी कारण सम्यग्ज्ञानको जुदा ही कहना चाहिए।

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थौ—[**जिनाः**] जिनेन्द्रदेव [**सम्यग्ज्ञानं**] सम्यग्ज्ञानको [**कार्यं**] कार्य और [**सम्यक्त्वं**] सम्यक्त्वको [**कारणं**] कारण [**वदन्ति**] कहते हैं, [**तस्मात्**] इस कारण [**सम्यक्त्वानन्तरं**] सम्यक्त्वके बाद ही [**ज्ञानाराधनम्**] ज्ञानकी उपासना [**इष्टम्**] ठीक है।

भावार्थ—यद्यपि पहिले मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पदार्थको जानते थे, परन्तु सम्यक्त्वके विना उन दोनोंका नाम कुमति और कुश्रुत था। जिस समय सम्यक्त्व हुआ उसी समय मतिज्ञान और श्रुत-ज्ञान नाम हो गया, सारांश ज्ञान यद्यपि था, परन्तु उनमें सम्यक्त्वपना सम्यग्दर्शनसे ही हुआ। अतएव सम्यक्त्व कारणरूप और सम्यग्ज्ञान कार्यरूप है।

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थौ—[**हि**] निश्चयकर [**सम्यक्त्वज्ञानयोः**] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंके [**समकालं**] एककालमें [**जायमानयोः अपि**] उत्पन्न होनेपर भी [**दीपप्रकाशयोः**] दीप और प्रकाशके [**इव**] समान [**कारणकार्यविधानं**] कारण और कार्यकी विधि [**सुघटम्**] भले प्रकार घटित होती है।

भावार्थ—यद्यपि दीपकका जलना और उसका प्रकाश एक ही साथ होता है, और जबतक दीपक जलता रहता है, तबतक ही प्रकाश रहता है, परन्तु दीपकका जलना प्रकाशका कारण है। इसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही समय होते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है।

कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥३५॥

अन्वयार्थौ—**[सदनेकान्तात्मकेषु]** प्रशस्त अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभाववाले **[तत्त्वेषु]** तत्त्वों या पदार्थोंमें **[अध्यवसायः]** उद्यम करना **[कर्तव्यः]** कर्तव्य है, और **[तत्]** वह सम्यग्ज्ञान **[संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तम्]** संशय, विपर्यय और विमोह रहित **[आत्मरूपं]** आत्माका निज स्वरूप है।

भावार्थ— पदार्थके स्वरूपको यथार्थ जानना (पदार्थ जिन अनेक स्वभावोंसे संयुक्त है, उनको भलीभाँति जानना) सम्यग्ज्ञान कहलाता है, और यह सम्यग्ज्ञान आत्माका निजस्वरूप है। सम्यग्ज्ञान संशय, विपर्यय और विमोह इन तीन भावोंके रहित होना चाहिये:—

संशय—विरुद्ध दो धर्मरूप ज्ञानको संशय कहते हैं, जैसे रात्रिमें किसीको देखकर संदेह कर कि न जाने यह पदार्थ मनुष्य है, कि राक्षस है, अथवा व्यन्तर है।

विपर्यय—अन्यथारूप इकतरफी ज्ञानको विपर्यय कहते हैं, जैसे मनुष्यमें व्यन्तरकी प्रतीति।

विमोह—'कुछ हैं, केवल इतना जाननेको विमोह कहते हैं। जैसे गमन करते समय तृणका स्पर्श।

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थौ—[**ग्रन्थार्थोभयपूर्णं**] ग्रन्थरूप (शब्दरूप), अर्थरूप और उभय अर्थात् शब्द अर्थरूप शुद्धतासे परिपूर्ण [**काले**] कालमें अर्थात् अध्ययनकालमें आराधने योग्य **[विनयेन]** मन, वचन, कायकी शुद्धतास्वरूप विनय [**च**] और [**सोपधानं**] धारणायुक्त [**बहुमानेन**] अतिशय सम्मानकर अर्थात् देव गुरु शास्त्रकी वन्दना नमस्कारादि कर **[समन्वितम्]** सहित, तथा **[अनिह्नवं]** विद्यागुरुकी गोपनीसे रहित **[ज्ञानम्]** ज्ञान **[आराध्यम्]** अराधन करने योग्य है।

भावार्थ—१ शब्दाचार, २ अर्थाचार, ३ उभयाचार, ४ कालाचार, ५ विनयाचार, ६ उपधानाचार, ७ बहुमानाचार और ८ अनिह्नवाचार, ये ज्ञानके आठ अङ्ग हैं:—

१ शब्दाचार—शब्द-शास्त्र (व्याकरण) के अनुसार अक्षर, पद, वाक्यका यत्नपूर्वक शुद्ध पठन-पाठन करनेको कहते हैं। व्यञ्जनाचार, श्रुताचार, अक्षराचार, ग्रन्थाचार आदि सब एकार्थवाची हैं।

२ अर्थाचार—यथार्थ शुद्ध अर्थके अवधारण करनेको कहते हैं।

३ **उभयाचार**[१]—अर्थ और शब्द दोनोंसे शुद्ध पठन-पाठन करनेको कहते हैं ।

४ **कालाचार**—गोसर्गकाल[२], प्रदोषकाल[३], प्रदोषकाल[४], और विरात्रिकाल[५] इन चार उत्तम कालोंमें पठन-पाठनादिरूप स्वाध्याय करनेको कालाचार कहते हैं । चारों संध्याओंकी अन्तिम दो दो घड़ियोंमें, दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि उत्पातोंके समयमें, सिद्धान्त-ग्रन्थोंका पठन-पाठन वर्जित है । हाँ स्तोत्र, आराधना, धर्मकथादिकके ग्रन्थ बाँच सकते हैं ।

५ **विनयाचार**—शुद्ध जलसे हाथ पाँव धोकर शुद्ध स्थानमें पर्यङ्कासन बैठकर नमस्कारपूर्वक शास्त्राध्ययनको कहते हैं ।

६ **उपधानाचार**—उपधान सहित आराधन करनेको अर्थात् विस्मृत न हो जानेको कहते हैं ।

७ **बहुमानाचार**—ज्ञान, पुस्तक और शिक्षकका पूर्ण आदर करनेको कहते हैं ।

८ **अनिह्नवाचार**—जिस गुरुसे जिस शास्त्रसे ज्ञान उत्पन्न होवे उसको गोपन न करनेको कहते हैं ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचिते पुरुषार्थसिद्ध्युपाये अपरनाम जिनप्रवचनरहस्यकोषे
सम्यग्ज्ञानवर्णनो नाम द्वितीयोऽधिकारः ।

---

३ सम्यक्चारित्रव्याख्यान ।

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः ।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थौ—[**विगलितदर्शनमोहैः**] दर्शनमोह जिन्होंने नष्ट कर दिया है, [**समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः**] सम्यग्ज्ञानसे जिन्हें तत्त्वार्थ विदित हुआ है, [**नित्यमपि निःप्रकम्पैः**] जो सदाकाल अकम्प अर्थात् दृढ़चित्त हैं, ऐसे पुरुषोंद्वारा [**सम्यक्चारित्रम्**] सम्यक्चारित्र [**आलम्ब्यम्**] अवलम्बन करने योग्य है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्तिके पश्चात् सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिये ।

१—उभयाचारको शब्द अर्थसे पृथक् करके तीसरा भेद माननेका कारण यह है, कि कहीं कहीं केवल ग्रन्थसे ही ज्ञानकी अराधना होती है, जैसे दशाध्यायसूत्र तथा भक्तामरादिस्तोत्रोंके पाठमात्रसे और कहीं कहीं केवल अर्थसे ही जैसे, शिवभूति मुनि 'शरीरसे आत्मा तुषमाषकी तरह भिन्न है,' केवल यह जानकर कल्याणको प्राप्त हुए । २—मध्याह्नसे दो घड़ी पहिले और सूर्योदयसे दो घड़ी पीछे । ३—मध्याह्नसे दो घड़ी पश्चात् और रात्रिसे दो घड़ी पहिले । ४—रात्रिसे दो घड़ी उपरान्त और मध्यरात्रिसे दो घड़ी पहिले । ५—मध्यरात्रिसे दो घड़ी पश्चात् और सूर्योदयसे दो घड़ी पहिले ।

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ।। ३८ ।।

अन्वयार्थौ—[**अज्ञानपूर्वकं चारित्रम्**] जिसके पूर्वमें अज्ञानभाव है, ऐसा चारित्र [**सम्यग्व्यपदेशं**] सम्यक् नामको [**न हि**] नहीं [**लभते**] पाता, [**तस्मात्**] इस कारण [**ज्ञानानन्तरम्**] सम्यग्ज्ञान के पश्चात् [**चारित्राराधनं**] चारित्रका आराधन [**उक्तं**] कहा है।

भावार्थ—पहिले यदि सम्यग्ज्ञान न होवे, और पाप-क्रियाका त्यागकर चारित्र-भार धारण करे, तो वह चारित्र सम्यक्चारित्र नाम नहीं पा सकता, जैसे विना जानी औषधके सेवनसे मरण संभव है, उसी प्रकार विना ज्ञानके चारित्रसे संसारकी वृद्धि होना संभव है। विना जीवके मृत शरीरस्थ इन्द्रियोंके आकार जैसे निष्प्रयोजन हैं, वैसे ही विना ज्ञानके शरीरका वेष, क्रियाकांडसाधन, शुद्धोपयोग प्राप्तिके साधक नहीं हो सकते।

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ।। ३९ ।।

अन्वयार्थौ—[**यतः**] क्योंकि [**तत्**] वह [**चारित्रं**] चारित्र [**समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्**] समस्त पापयुक्त मन, वचन, कायके योगोंके त्यागसे [**सकलकषायविमुक्तं**] सम्पूर्ण कषायोंसे रहित [**विशदम्**] निर्मल, [**उदासीनम्**] पर पदार्थोंसे विरक्ततारूप और [**आत्मरूपं**] आत्म स्वरूप [**भवति**] होता है।

भावार्थ—समस्त कषायोंका अभाव होनेसे यथाख्यातचारित्र होता है। सामायिकचारित्रमें यद्यपि सकलचारित्री हुआ था, परन्तु संज्वलनकषायके कारण मन्दता नहीं गई थी, अतएव जब सकल कषायोंसे रहित हुआ, तब यथाख्यातचारित्र नाम पाया अर्थात् चारित्रका जो स्वरूप था वह प्रकट हुआ। प्रसङ्गोपात्त—

प्रश्न—स्वभाव चारित्र है कि नहीं ?

उत्तर—शुभोपयोग विशुद्ध परिणामोंसे होता है, और विशुद्धता मंद कषायको कहते हैं। इसलिये कषायकी हीनतासे कथंचित् चारित्र है। पुनः—

प्रश्न—देव, गुरु, शास्त्र, शील, तप, संयमादिकोंमें होने वाली अत्यन्त रागरूप प्रवृत्तिको जो मन्द कषाय ही है, क्या कहना चाहिये ?

उत्तर—यह रागरूप प्रवृत्ति विषय कषायादिकके रागकी अपेक्षा मन्द कषाय ही है, क्योंकि इस राग प्रवृत्तिमें क्रोध, मान, मायाका तो नाम नहीं है, रहा प्रीति भावकी अपेक्षा लोभ, सो भी सांसारिक प्रयोजनयुक्त नहीं है। अतएव लोभ कषायकी भी मन्दता ठहरी, और फिर ज्ञानी जीव राग भावोंका प्रेरा हुआ अशुभ रागोंको छोड़ शुभ रागमें प्रवृत्त हुआ है, कुछ शुभ रागको उपादेयरूप श्रद्धान नहीं कर बैठा है, बल्कि अपने शुद्धोपयोगरूप चारित्रके लिये मलिनताका कारण ही जानता है, अशुभोपयोगी कषायोंकी तीव्रता गई है, इसलिये किसी प्रकार चारित्र कह सकते हैं।

हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ।। ४० ।।

अन्वयार्थौ—[**हिंसातः**] हिंसासे, [**अनृतवचनात्**] असत्य भाषणसे, [**स्तेयात्**] चोरीसे, [**अब्रह्मतः**] कुशीलसे, और [**परिग्रहतः**] परिग्रहसे [**कार्त्स्न्यैकदेशविरतेः**] सर्वदेश और एकोदेश त्यागसे वह [**चारित्रं**] चारित्र [**द्विविधम्**] दो प्रकारका [**जायते**] होता है ।

भावार्थ—हिंसादिक पापोंके सर्वथा त्यागको सकलचारित्र और एकोदेश त्यागको देशचारित्र कहते हैं ।

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ।। ४१ ।।

अन्वयार्थौ—[**कार्त्स्न्यनिवृत्तौ**] सर्वथा सर्वदेशत्यागमें [**निरतः**] लवलीन [**अयम् यतिः**] यह मुनि [**समयसारभूतः**] शुद्धोपयोगरूप स्वरूपमें आचरण करनेवाला [**भवति**] होता है । [**या तु एकदेशविरतिः**] और जो एकदेशविरति है, [**तस्याम् निरतः**] उसमें लगा हुआ [**उपासकः**] उपासक अर्थात् श्रावक [**भवति**] होता है ।

भावार्थ—सकलचारित्रका स्वामी मुनि और देशचारित्रका स्वामी श्रावक है ।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ।। ४२ ।।

अन्वयार्थौ—[**आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्**] आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामोंके घात होनेके हेतुसे [**एतत्सर्वम्**] ये सब [**हिंसा एव**] हिंसा ही हैं, [**अनृतवचनादि**] अनृत वचनादिक भेद [**केवलम्**] केवल [**शिष्यबोधाय**] शिष्योंको समझानेके लिये [**उदाहृतं**] उदाहरणरूप कहे हैं ।

भावार्थ—पाँचों पाप (हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह) हिंसामें ही गर्भित हैं । क्योंकि इन सब पापोंसे आत्माके शुद्ध परिणामोंका घात होता है, इस कारण पाँचों पाप हिंसाके ही भेद हैं ।

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ।। ४३ ।।

अन्वयार्थौ—[**कषाययोगात्**] कषायरूप परिणमन हुए मन वचन कायके योगोंसे [**यत्**] जो [**द्रव्यभावरूपाणाम्**] द्रव्य और भावरूप दो प्रकारके [**प्राणानां**] प्राणोंका [**व्यपरोपणस्य करणं**] व्यपरोपणका या घातका करना है, [**खलु**] निश्चयसे [**सा**] वह [**सुनिश्चिता**] अच्छी तरह निश्चय की हुई [**हिंसा**] हिंसा [**भवति**] होती है ।

भावार्थ—जिस पुरुषके मनमें, वचनमें, कायमें, क्रोधादिक कषाय प्रकट होते हैं, उसके शुद्धोपयोगरूप भावप्राणोंका घात तो पहले होता है, क्योंकि कषायके प्रादुर्भावसे भावप्राणका व्यपरोपण होता है, यह प्रथम हिंसा है। पश्चात् यदि कषायकी तीव्रतासे दीर्घ श्वासोच्छ्वाससे, हस्त पादादिकसे वह अपने अंगको कष्ट पहुँचाता है, अथवा आत्मघात कर लेता है, तो उसके द्रव्य प्राणोंका व्यपरोपण होता है, यह दूसरी हिंसा है। फिर उसके कहे हुए मर्मवेधी कुवचनादिकोंसे या हास्यादिसे लक्ष्यपुरुषके अन्तरंगमें पीड़ा होकर उसके भावप्राणोंका व्यपरोपण होता है, यह तीसरी हिंसा है। और अन्तमें इसकी तीव्र कषाय और प्रमादसे लक्ष्यपुरुषको जो शारीरिक अंग छेदन आदि पीड़ा पहुँचाई जाती है, सो परद्रव्यप्राणव्यपरोपण होता है, यह चौथी हिंसा है। सारांश—कषायसे अपने परके भावप्राण व द्रव्यप्राणका घात करना यह हिंसाका लक्षण है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थौ—[**खलु**] निश्चय करके [**रागादीनां**] रागादि[1] भावोंका [**अप्रादुर्भावः**] प्रकट न होना [**इति**] यह [**अहिंसा**] अहिंसा [**भवति**] है, और [**तेषामेव**] उन्हीं रागादि भावोंकी [**उत्पत्तिः**] उत्पत्ति होना [**हिंसा**] हिंसा [**भवति**] होती है, [**इति**] ऐसा [**जिनागमस्य**] जैनसिद्धान्तका [**संक्षेपः**] सार है।

भावार्थ—अपने शुद्धोपयोगरूप प्राणका घात रागादिक भावोंसे होता है, अतएव रागादिक भावोंका अभाव ही अहिंसा है, और शुद्धोपयोगरूप प्राणघात होनेसे उन्हीं रागादिक भावोंका सद्भाव हिंसा है। परम अहिंसाधर्म प्रतिपादक जैनधर्मका यही रहस्य है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थौ—[**अपि**] और [**युक्ताचरणस्य**] योग्य आचरणवाले [**सतः**] सन्तपुरुषके [**रागाद्यावेशमन्तरेण**] रागादिक भावोंके विना [**प्राणव्यपरोपणात्**] केवल प्राणपीड़नसे [**हिंसा**] हिंसा [**जातु एव**] कदाचित् भी [**न हि**] नहीं [**भवति**] होती।

१-आदि शब्द द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, शोक, जुगुप्सा, प्रमादादिक समस्त विभाव भावोंका भी द्योतक है। उक्त विभाव भावोंका संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार जानना चाहियेः—**राग**—किसी पदार्थको इष्ट जानकर उसमें प्रीतिरूप परिणाम। **द्वेष**—किसीको अपना अनिष्ट जान उसमें अप्रीतिरूप परिणाम। **मोह**—परपदार्थोंमें ममत्वरूप परिणाम। **काम**—स्त्री पुरुष और नपुसन्कमें मैथुनरूप परिणाम। **क्रोध**—किसीकी अनुचित कृति जानके उसे दुःख देनेरूप परिणाम। **मान**—अपनेको बड़ा मानना। **माया**—मन, वचन, कायमें एकताका अभाव। **लोभ**—परपदार्थोंसे सम्बन्ध करनेके चाहरूप परिणाम। **हास्य**—उत्तम अनुत्तम चेष्टायें देख विकसित परिणाम। **भय**—दुःखदायक पदार्थोंको देख डररूप परिणाम। **शोक**—इष्टके अभावमें आर्त्तरूप परिणाम। **जुगुप्सा**—ग्लानिरूप परिणाम। **प्रमाद**—कल्याणकारी कार्यमें अनादर।

भावार्थ—यदि किसी सज्जनपुरुषके सावधानतापूर्वक गमनादि करनेमें भी उसके शरीरसम्बन्ध से कोई जीव पीड़ित हो जावें, तो उसे हिंसाका दूषण कदापि नहीं लग सकता, क्योंकि उसके परिणाम कषाययुक्त नहीं थे। यही कारण है कि "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" यह हिंसाका लक्षण कहा है। यदि केवल **"प्राणव्यपरोणं हिंसा"** अर्थात् प्राणोंको पीड़ा देना मात्र ही हिंसाका लक्षण कहा होता तो ऐसे अवसरपर अतिव्याप्तिदूषणका सद्भाव होता, इसके सिवाय अव्याप्तिदूषणका भी प्रवेश हो जाता, जो आगेके श्लोकसे प्रकट होगा।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥

अन्वयार्थौ—[**रागादीनां**] रागादिक भावोंके [**वशप्रवृत्तायाम्**] वशमें प्रवृत्त हुई [**व्युत्थानावस्थायां**] अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्थामें [**जीवः**] जीव [**म्रियतां**] मरो [**वा**] अथवा [**मा**] 'म्रियतां' न मरो, [**हिंसा**] हिंसा तो [**ध्रुवं**] निश्चयकर [**अग्रे**] आगे ही [**धावति**] दौड़ती है।

भावार्थ—जो प्रमादी जीव कषायोंके वशीभूत होकर गमनादि क्रिया यत्नपूर्वक नहीं करता, वह 'जीव मरे अथवा नहीं मरे', हिंसाके दोषका भागी अवश्य होता है; क्योंकि हिंसा कषाय भावों से उत्पन्न होती है, और इसके कषायभावका सद्भाव है ही। इस वाक्यसे प्राणोंको पीडा न होते भी हिंसा सिद्ध होती है। यदि पूर्वकथित प्राणव्यपरोपण मात्र (प्राणपीड़नमात्र) लक्षण कहा होता तो अव्याप्तिदूषण आता। बिना किसीके प्राणोंका घात हुए ही हिंसा क्यों हो गई ? इस प्रश्नका समाधान आगेके श्लोकसे हो जायगा।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थौ—[**यस्मात्**] क्योंकि [**आत्मा**] जीव [**सकषायः सन्**] कषाय भावों सहित होनेसे [**प्रथमम्**] पहिले [**आत्मना**] आपके ही द्वारा [**आत्मानम्**] आपको [**हन्ति**] घातता है, [**तु**] फिर [**पश्चात्**] पीछेसे चाहे [**प्राण्यन्तराणां**] अन्य जीवोंकी [**हिंसा**] हिंसा [**जायेत**] होवे [**वा**] अथवा [**न**] नहीं होवे।

भावार्थ—हिंसा शब्दका अर्थ घात करना है, परन्तु यह घात दो प्रकारका है, एक आत्मघात, दूसरा परघात। जिस समय आत्मामें कषाय भावोंकी उत्पत्ति होती है, उसी समय आत्मघात हो जाता है। पीछे यदि अन्य जीवों की आयु पूरी हो गई हो, अथवा पापका उदय आया हो तो उनका भी घात हो जाता है, अन्यथा आयुकर्म पूर्ण न हुआ हो, पापका उदय न आया हो, तो कुछ भी नहीं होता, क्योंकि उनका घात उनके कर्मोंके अधीन है; परन्तु आत्मघात तो कषायोंकी उत्पत्ति होते ही हो जाता है, और आत्मघात तथा परघात दोनों ही हिंसा है।

हिंसायाअविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ।। ४८ ।।

अन्वयार्थौ—[**हिंसायाः**] हिंसासे [**अविरमणं**] विरक्त न होना [**हिंसा**] हिंसा, और [**हिंसापरिणमनम्**] हिंसारूप परिणमना [**अपि**] भी [**हिंसा**] हिंसा [**भवति**] होती है। [**तस्मात्**] इसलिये [**प्रमत्तयोगे**] प्रमादके योगमें [**नित्यम्**] निरन्तर [**प्राणव्यपरोपणं**] प्राण-घातका सद्भाव है।

भावार्थ—परजीवके घातरूप हिंसा दो प्रकार की होती है—पहली अविरमणरूप और दूसरी परिणमनरूप। १—अविरणरूप हिंसा उसे कहते हैं, जो जीवके परघातमें प्रवृत्त न होनेपर भी हिंसा त्यागकी प्रतिज्ञाके बिना हुआ करती है। क्रियाके बिना ही यह हिंसा क्यों होती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस पुरुषके हिंसाका त्याग नहीं है, वह यद्यपि सोते हुए बिलावकी तरह किसी समय हिंसामें प्रवृत्ति नहीं भी करता, परन्तु उसके अन्तरंगमें हिंसा करनेके भावका सद्भाव है, अतएव वह अविरमणरूप हिंसाका भागी होता है। २—परिणमनरूप हिंसा उसे कहते हैं, जो जीवको परजीवके घातमें मन, वचन, कायसे प्रवृत्त होनेपर होती है। इन दोनों प्रकारकी हिंसाओंमें प्रमादसहित योगका अस्तित्व पाया जाता है, और जबतक प्रमाद पाया जाता है, तबतक हिंसाका अभाव किसी प्रकार नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमादयोगमें सदाकाल परजीवकी अपेक्षा भी प्राणघातका सद्भाव होता है। अतएव प्रमादके परिहारार्थ परजीवोंकी हिंसाके त्यागमें दृढ़प्रतिज्ञ होना चाहिये, जिससे दोनों प्रकार की हिंसाओंसे बचा रहे।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ।। ४६ ।।

अन्वयार्थौ—[**खलु**] निश्चयकर [**पुंसः**] आत्माके [**परवस्तुनिबन्धना**] पर वस्तुका है, निबंधन (कारण) जिसमें ऐसी [**सूक्ष्मांहिसा अपि**] सूक्ष्महिंसा भी [**न भवति**] नहीं होती है, [**तदपि**] तो भी [**परिणामविशुद्धये**] परिणामोंकी निर्म्मलताके लिए [**हिंसायतननिवृत्तिः**] हिंसाके आयतन परिग्रहादिकोंका त्याग [**कार्या**] करना उचित है।

भावार्थ—रागादिक कषाय भावोंका होना ही हिंसा है। परवस्तुका इससे कोई सम्बन्ध नहीं; परन्तु रागादिक परिणाम परिग्रहादिकके निमित्तसे ही होते हैं, इस कारण परिणामोंकी विशुद्धताके अर्थ परिग्रहादिका भी त्याग करना चाहिये; क्योंकि, जिस माताका सुभट पुत्र होता है, उससे यह कहा जाता है कि मैं तेरे सुभटको मारूंगा। परन्तु जिस बाँझके पुत्र ही नहीं है, उसपर यह परिणाम क्योंकर हो सकते हैं कि मैं तेरे पुत्रको मारूंगा ? सारांश परिग्रहादिका अवलम्बन होनेसे ही कषायकी उत्पत्ति होती है, परन्तु जब उनसे सम्बन्ध ही नहीं है तो कहाँसे हो ?

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ।।५०।।

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो जीव [**निश्चयम्**] यथार्थ निश्चयके स्वरूपको [**अबुध्यमानः**] नहीं जानकर [**तमेव**] उसको ही [**निश्चयतः**] निश्चयश्रद्धान[1] से [**संश्रयते**] अंगीकार करता है, [**सः**] वह [**बालः**] मूर्ख [**बहिःकरणालसः**] बाह्य क्रियामें आलसी है और [**करणचरणं**] बाह्यक्रियारूप आचरणको [**नाशयति**] नष्ट करता है ।

अर्थात्—जो जीव निश्चयनयके स्वरूपको न जानकर व्यवहाररूप बाह्य परिग्रहके त्यागको निश्चयसे मोक्षमार्ग जान अंगीकार करता है, वह मूर्ख शुद्धोपयोगरूप आत्माकी दशाको नष्ट करता है ।

भावार्थ—जो कोई पुरुष यह कहता है कि मेरे अन्तरंग परिणाम स्वच्छ होना चाहिये, बाह्य परिग्रहादिक रखने या भ्रष्टरूप आचरण करनेसे मुझमें कोई दोष नहीं आ सकता, वह अहिंसाके आचरणको नष्ट करता है, क्योंकि बाह्य निमित्तसे अन्तरंग परिणाम अशुद्ध होते ही हैं । अतएव एक ही पक्ष ग्रहण नहीं करके निश्चय और व्यवहार दोनों ही अंगीकार करना चाहिए ।

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ।।५१।।

अन्वयार्थौ—[**हि**] निश्चयकर [**एकः**] एक जीव [**हिंसां**] हिंसाको [**अविधाय अपि**] नहीं करके भी [**हिंसाफलभुग्**] हिंसा-फलके भोगनेका पात्र [**भवति**] होता है, और [**अपरः**] दूसरा [**हिंसां कृत्वा अपि**] हिंसा-करके भी [**हिंसाफलभाजनं**] हिंसाके फलको भोगनेका पात्र [**न स्यात्**] नहीं होता है ।

भावार्थ—जिसके परिणाम हिंसारूप हुए, चाहे वे परिणाम हिंसाका कोई कार्य न कर सके हों तो भी वह जीव हिंसाके फलको भोगेगा, और जिस जीवके शरीरसे किसी कारण हिंसा तो हो गई परन्तु परिणामोंमें हिंसा नहीं आई, वह हिंसा करनेका भागी कदापि नहीं होगा ।[2]

एकस्याल्पा[3] हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ।।५२।।

अन्वयार्थौ—[**एकस्य**] एक जीवको तो [**अल्पा**] थोड़ी [**हिंसा**] हिंसा [**काले**] उदयकालमें [**अनल्पम्**] बहुत [**फलम्**] फलको [**ददाति**] देती है, और [**अन्यस्य**] दूसरे जीवको [**महाहिंसा**] बड़ी भारी हिंसा भी [**परिपाके**] उदय समयमें [**स्वल्पफला**] बिलकुल थोड़े फलको देनेवाली [**भवति**] होती है ।

१–निश्चयश्रद्धासे अन्तरंग हिंसाको ही हिंसा मानता है ।

२–४५ वें श्लोकमें भी यही भाव प्रदर्शित किया गया है । ३–'उपगीति'–नामक आर्याछन्द, १२+१५, १२+१५ मात्रा ।

भावार्थ—जो पुरुष बाह्य हिंसा तो थोड़ी कर सका हो, परन्तु अपने परिणामोंको हिंसाभावसे अधिक लिप्त रक्खे हो, वह तीव्र कर्मबंधका भागी होगा और जो पुरुष परिणामोंमें हिंसाके अधिक भाव न रखकर बाह्य हिंसा अचानक बहुत कर गया हो, वह मन्द कर्मबंधका भागी होगा।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥५३॥

अन्वयार्थौ—[**सहकारिणोः अपि हिंसा**] एकसाथ मिलकर की हुई भी हिंसा [**अत्र**] इस [**फलकाले**] उदयकालमें [**वैचित्र्यम्**] विचित्रताको [**व्रजति**] प्राप्त होती है, और [**एकस्य**] किसीको [**सा एव**] वही हिंसा [**तीव्रं**] तीव्र [**फलं**] फल [**दिशति**] दरसाती है और [**अन्यस्य**] किसीको [**सा एव**] वही [**हिंसा**] हिंसा [**मन्दम्**] न्यून फल।

भावार्थ—यदि दो पुरुष मिलकर कोई हिंसा करें, तो उनमेंसे जिसके परिणाम तीव्र कषायरूप हुए हों, उसे हिंसाका फल अधिक भोगना पड़ेगा, और जिसके परिणाम मन्द कषायरूप रहे हों, उसे अल्प फल भोगना पड़ेगा।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थौ—[**हिंसा**] कोई हिंसा [**प्राक् एव**] पहिले ही [**फलति**] फल जाती है, कोई [**क्रियमाणा**] करते करते [**फलति**] फलती है, कोई [**कृता अपि**] कर चुकनेपर भी [**फलति**] फलती है, [**च**] और कोई [**कर्तुम् आरभ्य**] हिंसा करनेका आरंभ करके [**अकृता अपि**] न करनेपर भी [**फलति**] फल देती है। इसी कारणसे [**हिंसा**] हिंसा [**अनुभावेन**] कषायभावोंके अनुसार ही [**फलति**] फल देती है।

भावार्थ—किसीने हिंसा करनेका विचार किया, परन्तु अवसर न मिलनेसे उस हिंसाके करनेके पहिले ही उन कषाय परिणामोंके द्वारा (जिनसे हिंसाका संकल्प किया गया था) बँधे हुए कर्मोंका फल उदयमें आ गया, और तब इच्छित हिंसा करनेको समर्थ हो सका, ऐसी अवस्थामें हिंसा करनेसे पहिले ही उस हिंसाका फल भोग लिया जाता है। इसी प्रकार किसीने हिंसा करनेका विचार किया और उस विचार द्वारा बाँधे हुए कर्मोंके फलको उदयमें आनेकी अवधि तक वह उक्त हिंसा करनेको समर्थ हो सका तो ऐसी दशामें हिंसा करते समय ही उसका फल भोगना सिद्ध होता है। किसीने सामान्यतः हिंसा करके फिर उसका फल उदयकालमें पाया, अर्थात् कर चुकनेपर फल पाया। किसीने हिंसा करनेका आरम्भ किया था, परन्तु किसी कारण हिंसा करनेमें शक्तिवान् नहीं हो सका, तथापि आरंभ-जनित बंधका फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा, अर्थात् न करनेपर भी हिंसाका फल भोगा जाता है। प्रयोजन केवल इतना ही है, कि कषायभावोंके अनुसार फल मिलता है।

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः ।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ।।५५।।

अन्वयार्थौ—[**एकः**] एक पुरुष [**हिंसां**] हिंसाको [**करोति**] करता है, परन्तु [**फलभागिनः**] फल भोगनेके भागी [**बहवः**] बहुत [**भवन्ति**] होते हैं, इसी प्रकार [**हिंसां**] हिंसाको [**बहवः**] बहुत जन [**विदधति**] करते हैं, परन्तु [**हिंसाफलभुक्**] हिंसाके फलका भोक्ता [**एकः**] एक पुरुष होता है ।

भावार्थ—किसी जीवको मारते देखकर अन्य देखनेवाले जी अच्छा कहते और प्रसन्न होते हैं, वे सब ही हिंसाफलके भागी होते हैं । इसीसे कहते हैं कि एक करता है और फल अनेक भोगते हैं । तथा इसी प्रकार संग्राममें हिंसा तो अनेक पुरुष करते हैं, परन्तु उनपर आज्ञा करनेवाला राजा उस सब हिंसाके फलका भागी होता है, अर्थात् अनेक करते हैं और फल एक भोगता है ।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले ।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ।। ५६ ।।

अन्वयार्थौ—[**कस्यापि**] किसी पुरुषको तो [**हिंसा**] हिंसा [**फलकाले**] उदयकालमें [**एकमेव**] एक ही [**हिंसाफलम्**] हिंसाके फलको [**दिशति**] देती है, और [**अन्यस्य**] किसी पुरुषको [**सैव**] वही [**हिंसा**] हिंसा [**विपुलम्**] बहुतसे [**अहिंसाफलं**] अहिंसाके फलको [**दिशति**] देती है ।

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे ।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ।। ५७ ।।

अन्वयार्थौ—[**तु अपरस्य**] और किसी को [**अहिंसा**] अहिंसा [**परिणामे**] उदयकालमें [**हिंसाफलम्**] हिंसाके फलको [**ददाति**] देती है, [**तु पुनः**] तथा [**इतरस्य**] अन्य किसीको [**हिंसा**] हिंसा [**अहिंसाफलं**] अहिंसाके फलको [**दिशति**] देती है, [**अन्यत् न**] अन्य फलको नहीं ।

भावार्थ—कोई जीव किसी जीवके बुरा करनेका यत्न कर रहा हो, परन्तु उस (जीव) के पुण्यसे कदाचित् बुरेकी जगह भला हो जावे, तो भी बुराईका यत्न करनेवाला बुराईके फलका भागी होगा । इसी प्रकार कोई वैद्य नीरोग करनेके अर्थ किसी रोगीकी औषध कर रहा हो और वह रोगी कदाचित् कारणवश मर जावे, तो वैद्य अहिंसाके ही फलको भोगेगा ।

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ।। ५८ ।।

अन्वयार्थौ—[**इति**] इस प्रकार [**सुदुस्तरे**] अत्यन्त कठिनाईसे पार किये जानेवाले और [**विविधभङ्गगहने**] नाना भंगोंसे गहन वनमें [**मार्गमूढदृष्टीनाम्**] मार्गमूढदृष्टि पुरुषोंको अर्थात् मार्ग भूले हुए पुरुषोंको [**प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः**] अनेक प्रकारके नय समूहको जाननेवाले [**गुरवः**] श्रीगुरु ही [**शरणं**] शरण [**भवन्ति**] होते हैं।

भावार्थ—हिंसाके अनेक भेदोंको वे ही गुरु समझा सकते हैं, जो नयचक्रके अच्छे ज्ञाता हैं।

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ।।५९।।

अन्वयार्थौ—[**जिनवरस्य**] जिनेन्द्रभगवान्का [**अत्यन्तनिशितधारं**] अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला और [**दुरासदं**] दुस्साध्य [**नयचक्रम्**] नयचक्र [**धार्यमाणं**] धारण किया हुआ [**दुर्विदग्धानाम्**] मिथ्याज्ञानी पुरुषोंके [**मूर्धानं**] मस्तकको [**झटिति**] शीघ्र ही [**खण्डयति**] खंड खंड कर देता है।

भावार्थ—जैनमतके नयभेद समझना बहुत कठिन है, जो मूढपुरुष विना समझे नयचक्रमें प्रवेश करते हैं, वे लाभके बदले हानि उठाते हैं।

अवबुध्य हिंस्य–हिंसक–हिंसा–हिंसाफलानि तत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ।। ६० ।।

अन्वयार्थौ—[**नित्यम्**] निरन्तर [**अवगूहमानैः**] संवरमें उद्यमवान् पुरुषोंको [**तत्त्वेन**] यथार्थतासे [**हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि**] हिंस्य[1], हिंसक[2], हिंसा[3] और हिंसाके फलोंको [**अवबुध्य**] जानकर [**निजशक्त्या**] अपनी शक्त्यनुसार [**हिंसा**] हिंसा [**त्यज्यतां**] छोड़ना चाहिये।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ।। ६१ ।।

अन्वयार्थौ—[**हिंसाव्युपरतिकामैः**] हिंसा त्याग करनेकी कामनावाले पुरुषोंको [**प्रथममेव**] प्रथम ही [**यत्नेन**] यत्नपूर्वक [**मद्यं**] शराब, [**मांसं**] मांस, [**क्षौद्रं**] शहद और [**पंचोदुम्बरफलानि**] ऊमर, कठूमर, पीपल, बड़, पाकर ये पांचों उदुम्बर फल [**मोक्तव्यानि**] छोड़ देने चाहिए।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ।। ६२ ।।

अन्वयार्थौ—[**मद्यं**] मदिरा अर्थात् शराब [**मनो मोहयति**] मनको मोहित करती है, और [**मोहितचित्तः**] मोहितचित्त पुरुष [**तु**] तो [**धर्मम्**] धर्मको [**विस्मरति**] भूल जाता है तथा

१–**हिंस्य**— जिनकी हिंसा की जावे, ऐसे अपने अथवा परजीवके द्रव्यप्राण और भावप्राण अथवा एकेन्द्रियादिक जीवसमास। २–**हिंसक**—हिंसा करनेवाला जीव। ३–**हिंसा**—हिंस्यके प्राणपीड़नकी अथवा प्राणघातकी क्रिया। ४–**हिंसाफल**—हिंसासे प्राप्त होनेवाले नरक निगोदादिक फल।

[**विस्मृतधर्मा**] धर्मको भूला हुआ [**जीवः**] जीव [**अविशङ्कम्**] निडर होकर [**हिंसाम्**] हिंसाको [**आचरति**] आचरण करता है। अर्थात् बेधड़क हिंसा करने लगता है।

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ।। ६ ।।

अन्वयार्थौ—[**च**] और [**मद्यम्**] मदिरा [**बहूनां**] बहुतसे [**रसजानां जीवानां**] रससे उत्पन्न हुए जीवोंकी [**योनिः**] योनि [**इष्यते**] मानी जाती है, इस कारण जो [**मद्यं**] मदिराको [**भजतां**] सेवन करते हैं, उनके [**तेषां**] उन जीवोंकी [**हिंसा**] हिंसा [**अवश्यम्**] अवश्य ही [**संजायते**] होती है।

भावार्थ—मदिरा निरन्तर जीवमय रहती है, उसके पानसे उन जीवोंका भी पान होता है, अतएव मदिरामें हिंसा होना अनिवार्य है।

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः ।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ।। ६४ ।।

अन्वयार्थौ—[**च**] और [**अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः**] घमण्ड, डर, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि [**हिंसायाः**] हिंसाके [**पर्यायाः**] पर्याय या भेद हैं, और [**सर्वेऽपि**] ये सब ही [**सरकसन्निहिताः**] मदिराके निकटवर्ती हैं।

भावार्थ—एक मदिराके पान करनेसे जितने भाव उत्पन्न होते हैं, वे सब हिंसाके ही भेद हैं, सहज ही मदिरापानसे अभिमानादिक सभी भाव होते हैं।

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ।। ६५ ।।

अन्वयार्थौ—[**यस्मात्**] क्योंकि [**प्राणिविघातात् विना**] प्राणियोंके घात विना [**मांसस्य**] मांसकी [**उत्पत्तिः**] उत्पत्ति [**न**] नहीं [**इष्यते**] मानी जाती, [**तस्मात्**] इस कारण [**मांसं भजतः**] मांसभक्षी पुरुषके [**अनिवारिता**] अनिवार्य [**हिंसा**] हिंसा [**प्रसरति**] फैलती है।

भावार्थ—मांस जीवके शरीरका एक भाग है, जो शरीरको छोड़ अन्यत्र नहीं पाया जाता और शरीरका जब घात किया जाता है, तब ही मांसकी प्राप्ति होती है। अतएव सिद्ध है कि जीव घातके बिना मांस नहीं मिलता।

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ।। ६६ ।।

अन्वयार्थौ—[**यदपि**] यद्यपि [**किल**] यह सच है कि [**स्वयमेव**] आपसे ही [**मृतस्य**] मरे हुए [**महिषवृषभादेः**] भैंस बैलादिकोंका [**मांसं**] मांस [**भवति**] होता है, किन्तु [**तत्रापि**] वहाँ भी

अर्थात् उक्त मांसके भक्षणमें भी [**तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्**] उस मांसके आश्रित रहनेवाले उसी जातिके निगोद जीवोंके मथनसे [**हिंसा**] हिंसा [**भवति**] होती है।

भावार्थ—जीवके शरीरमें जिस जीवका वह मांस है, उसी जाति के अनन्त सूक्ष्म संमूर्छन जीव भी रहते हैं। इसलिये मांसके खानेमें उन सूक्ष्म जीवोंका घात होनेसे हिंसा होती ही है।

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थौ—[**आमासु**] विना पकी, [**पक्वासु**] पकी हुई, [**अपि**] तथा [**विपच्यमानासु**] पकती हुई [**अपि**] भी [**मांसपेशीषु**] मांसकी डलियोंमें [**तज्जातीनां**] उसी जातिके [**निगोतानाम्**] सम्मूर्छन जीवोंका [**सातत्येन**] निरन्तर ही [**उत्पादः**] उत्पाद होता रहता है।

भावार्थ—मांसकी डलियोंमें सर्व अवस्थाओंमें उस ही मांसमें नये नये अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है।

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थौ – [**यः**] जो जीव [**आमां**] कच्ची [**वा**] अथवा [**पक्वां**] अग्निमें पकी हुई [**पिशितपेशीम्**] मांसकी डलीको [**खादति**] भक्षण करता है [**वा**] अथवा [**स्पृशति**] छूता है [**सः**] वह पुरुष [**सततनिचितं**] निरन्तर एकत्रित किये हुए [**बहुजीवकोटीनाम्**] अनेक जातिके जीवसमूहके [**पिण्डं**] पिण्डको [**निहन्ति**] हनता है।

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९॥

अन्वयार्थौ—[**लोके**] इस लोकमें [**मधुशकलमपि**] मधुका कण भी [**प्रायः**] बहुधा [**मधुकरहिंसात्मकं**] मक्खियोंकी हिंसारूप [**भवति**] होता है, अतएव [**यः**] जो [**मूढधीकः**] मूर्खबुद्धि पुरुष [**भजति**] शहदका भक्षण करता है, [**सः**] वह [**अत्यन्तम् हिंसकः**] अत्यन्त हिंसा करनेवाला होता है।

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥ ७० ॥

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो [**छलेन**] कपटसे [**वा**] अथवा [**गोलात्**] छत्तेमें से [**स्वयमेव विगलितम्**] स्वयमेव टपके हुए [**मधु**] मधु-या शहदको [**गृह्णीयात्**] ग्रहण करता है, [**तत्रापि**] वहाँ भी [**तदाश्रयप्राणिनाम्**] उसके आश्रयभूत जन्तुओंके [**घातात्**] घात होनेसे [**हिंसा**] हिंसा [**भवति**] होती है।

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र[1] ।। ७१ ।।

अन्वयार्थौ—[**मधु**] शहद, [**मद्यं**] मदिरा, [**नवनीतं**] मक्खन [**च**] और [**पिशितं**] मांस [**महाविकृतयः**] महा विकारोंको धारण किये हुए [**ताः**] ये चारों पदार्थ [**व्रतिना**] व्रती पुरुष करके [**न वल्भ्यन्ते**] भक्षण करने योग्य नहीं हैं। क्योंकि [**तत्र**] उन वस्तुओंमें [**तद्वर्णाः**] उस ही जातिके [**जन्तवः**] जीव रहते हैं।

भावार्थ—मधुमें मधुके, मदिरामें मदिराके, मक्खनमें मक्खनके और मांसमें मांसके रंगके जीव उत्पन्न होते रहते हैं, जो कि दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। इस कारण इन वस्तुओंको खाना उचित नहीं है। विकारयुक्त वस्तुओंमें चर्मस्पर्शित घी, तैल, जल तथा अचार, संधाणा, विष, माटी आदि और भी जानना।

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ।। ७२ ।।

अन्वयार्थौ—(**उदुम्बरयुग्मं**) ऊमर, कठूमर अर्थात् अंजीर (**प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि**) पाकर, बड़ और पीपलके फल (**त्रसजीवानां**) त्रस जीवोंकी [**योनिः**) योनि या खानि है, [**तस्मात्**] इस कारण [**तद्भक्षणे**] उनके भक्षणमें [**तेषां**] उन त्रस जीवोंकी [**हिंसा**] हिंसा होती है।

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ।। ७३ ।।

अन्वयार्थौ—(**तु पुनः**) और फिर भी (**यानि**) जो पाँच उदुम्बर (**शुष्काणि**) सूखे हुए (**कालोच्छिन्नत्रसाणि**) काल पाकर त्रस जीवोंसे रहित (**भवेयुः**) हो जावें, (**तान्यपि**) उनको भी (**भजतः**) भक्षण करनेवालेके (**विशिष्टरागादिरूपा**) विशेषरागादिरूप (**हिंसा**) हिंसा (**स्यात्**) होती है।

भावार्थ—जो पुरुष ऐसे निंद्य पदार्थोंको सुखाकर खावेगा, उसके राग भावोंकी विशेषता अवश्य ही होगी। क्योंकि ये पदार्थ रागकी अधिकताके विना गेहूं चना आदि अन्नोंके समान साहजिक प्रकृतिसे नहीं सुखाये जाते, अतएव इन फलोंको सुखाकर त्रस जीव नहीं रहे, ऐसा बहाना बनाकर कभी भक्षण नहीं करना चाहिये, क्योंकि त्रसजीवोंकी विराधनासे भी इसके भक्षणमें अधिक हिंसा होती है।

१–किसी किसी प्रतिमें यह एक श्लोक और भी पाया जाता है परन्तु पं० टोडरमलजीने इसका अर्थ नहीं लिखा। वह यह है:—

मधुशकलमपि प्रायो मोक्तव्यं शुद्धबुद्धिभिः संततम् ।
वस्तुनि मधुवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ।।

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ।। ७४ ।।

अन्वयार्थौ—[**अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि**] दुःखदायक दुस्तर और पापोंके स्थान [**अमूनि**] इन [**अष्टौ**] आठ पदार्थोंको [**परिवर्ज्य**] परित्याग करके [**शुद्धधियः**] निर्मल बुद्धिवाले पुरुष [**जिनधर्मदेशनायाः**] जिनधर्मके उपदेशके [**पात्राणि**] पात्र [**भवन्ति**] होते हैं ।

भावार्थ—मद्य, मांस, मधु और पाँच उदम्बर फल ये आठों पदार्थ महा पापके कारण हैं, इस कारण इनका त्याग करनेपर ही पुरुष किसी उपदेशके सुननेके योग्य पात्र होता है, अर्थात् इनके त्याग के विना श्रावक नहीं हो सकता, इसी कारण इनके त्यागको अष्ट मूलगुण माना है ।

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ।। ७५ ।।

अन्वयार्थौ—[**ये**] जो जीव [**अहिंसारूपं**] अहिंसारूप [**धर्मम्**] धर्मको [**संशृण्वन्तः अपि**] भले प्रकार श्रवण करके भी [**स्थावरहिंसाम्**] स्थावर जीवोंकी हिंसा [**परित्यक्तुम्**] छोड़नेको [**असहाः**] असमर्थ हैं [**ते अपि**] वे भी [**त्रसहिंसां**] त्रस जीवोंकी हिंसाको [**मुञ्चन्तु**] छोड़ें ।

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ।। ७६ ।।

अन्वयार्थौ—[**औत्सर्गिकी निवृत्तिः**] उत्सर्गरूप निवृत्ति अर्थात् सामान्य त्याग [**कृतकारितानुमननैः**] कृत कारित, अनुमोदनरूप [**वाक्कायमनोभिः**] मन वचन काय करके [**नवधा**] नव प्रकार [**इष्यते**] मानी है, [**तु**] और [**एषा**] यह [**अपवादिकी**] अपवादरूप निवृत्ति [**विचित्ररूपा**] अनेकरूप है ।

भावार्थ— साधारणतः सर्वथा त्यागको उत्सर्गत्याग कहते हैं । यह नौ प्रकारका होता है । मनसे वचनसे या कायसे, आप न करना, दूसरेसे न कराना और करनेवालेको भला नहीं समझना । इन नौ भेदोंमें से किसी भेदका थोड़ा बहुत किसी प्रकारसे त्याग करनेको अपवाद त्याग कहते हैं । इसके बहुत भेद हैं ।

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ।।७७।।

अन्वयार्थौ—[**सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्**] इन्द्रियोंके विषयोंका न्यायपूर्वक सेवन करनेवाले [**गृहिणाम्**] श्रावकोंको [**स्तोकैकेन्द्रियघातात्**] अल्प एकेन्द्रिय घातके अतिरिक्त [**शेषस्थावरमारणविरमणमपि**] अवशेष स्थावर (एकेन्द्री) जीवोंके मारनेका त्याग भी [**करणीयम्**] करने योग्य [**भवति**] होता है ।

भावार्थ—गृहस्थसे एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं हो सकता है, इसलिये यदि योग्य रीतिसे यत्नाचारपूर्वक कार्य करते हुए एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा होती है, तो होओ, परन्तु इसके अतिरिक्त

व्यर्थ और असावधानीसे कार्य करनेमें जो एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा होती है, उसका तो अवश्य ही त्याग होना चाहिये[1] ।

अमृतत्वहेतुभूतं परमहिंसारसायनं लब्ध्वा ।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ।।७८।।

अन्वयार्थौ—[**अमृतत्वहेतुभूतं**] अमृत अर्थात् मोक्षके कारणभूत [**परमं**] उत्कृष्ट [**अहिंसारसायनं**] अहिंसारूपी रसायनको [**लब्ध्वा**] प्राप्त करके [**बालिशानाम्**] अज्ञानी जीवोंके [**असमञ्जसम्**] असङ्गत बर्तावको [**अवलोक्य**] देखकर [**आकुलैः**] व्याकुल [**न भवितव्यम्**] नहीं होना चाहिये ।

भावार्थ—किसी जीवको हिंसा करते हुए सुख सातायुक्त देखकर और आपको अहिंसाधर्म पालते हुए भी दुःखी जानकर अथवा आपको अहिंसाधर्म साधते देख व अन्य मिथ्यादृष्टियोंको हिंसामें धर्म ठहराते हुए व पुष्ट करते हुए देखकर धर्मात्मा पुरुषोंको चलायमान न होना चाहिये ।

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति ।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ।।७९।।

अन्वयार्थौ—[**भगवद्धर्मः**] परमेश्वरकथित—भगवानका कहा हुआ धर्म [**सूक्ष्मः**] बहुत बारीक है, अतएव [**धर्मार्थं**] 'धर्मके निमित्त [**हिंसने**] हिंसा करनेमें [**दोषः**] दोष [**नास्ति**] नहीं है' । [**इति धर्ममुग्धहृदयैः**] ऐसे धर्ममें मूढ अर्थात् भ्रमरूप हुए हृदयसहित [**भूत्वा**] हो करके [**जातु**] कदाचित् [**शरीरिणः**] शरीरधारी जीव [**न हिंस्याः**] नहीं मारने चाहिये ।

भावार्थ—जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म कदापि नहीं हो सकता, अतएव धर्मात्मा पुरुषोंको इस प्रकार के धोखेमें नहीं आना चाहिये, कि धर्मके निमित्त यज्ञसम्बन्धी हिंसा करनेमें पाप नहीं है । यदि यहांपर कोई यह प्रश्न करे कि जैनधर्ममें भी तो मंदिर बनवाना, प्रतिष्ठा कराना कहा गया है, जिसमें सूक्ष्म जीवोंकी विपुल हिंसा होती है, सो क्या इन मन्दिरादि कार्योंमें धर्म नहीं होता ? इसका उत्तर यह है

---

१ त्रसस्थावरस्वरूपकथनम्ः—

संसारी जीव दो प्रकार के हैं—एक त्रस, दूसरे स्थावर । केवल एक स्पर्शन इन्द्रियवाले एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं । और द्वीन्द्रियादिक पंचेन्द्री पर्यन्त जीवोंको त्रस कहते हैं । स्थावरजीवोंके **१ पृथ्वीकाय, २ जलकाय ३ वनस्पतिकाय, ४ अग्निकाय, ५ वायुकाय** ये ५ भेद हैं और त्रसजीवोंके **१ द्वीन्द्रिय, २ त्रीन्द्रिय, ३ चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय** ये ४ भेद हैं । जो स्पर्शन और रसना (जीभ) युक्त हों, जैसे लट, कौड़ी, गिड़ोला आदि उन्हें द्वीन्द्रिय, जो स्पर्शन, रसना, घ्राण (नाक) युक्त हों जैसे कीड़ी मकोड़ी, कानखजूरा आदि उन्हें ते–इन्द्रिय, जो स्पर्शन रसना, घ्राण, नेत्रयुक्त हों जैसे भ्रमर पतंगादि उन्हें चतुरिन्द्रिय और जो कानसंयुक्त हों जैसे मनुष्य, देव, पशु, पक्षी आदि उन्हें पंचेन्द्रिय कहते हैं । पुनः पंचेन्द्रियके सैनी और असैनी ये दो भेद हैं । जिन पंचेन्द्रिय जीवोंके मन पाया जाता है, उन्हें सैनी और जिनके मन नहीं पाया जाता, उन्हें असैनी कहते हैं । सैनी पंचेन्द्रिय चार प्रकारके हैं, देव, मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च । इनमेंसे नरकोंके भूमिकी अपेक्षा सात भेद और तिर्यञ्चोंके जलचर, स्थलचर और नभश्चर ये तीन भेद हैं ।

कि यदि ये कार्य केवल मान बड़ाईके लिये यत्नाचार रहित लापरवाहीसे किये जावें, तो कदापि शुभ बंधके कारण नहीं हो सकते, परन्तु धर्म-बुद्धिसे यत्नपूर्वक किये जावें, तो अधिक शुभबंधके कर्त्ता होते हैं। यद्यपि उक्त कार्योंमें आरंभजनित हिंसा होती है, परन्तु वह (हिंसा) धर्मानुरागपूर्वक बँधे हुए शुभ बंधकी (पुण्यकी) ओर देखनेसे कुछ गिनतीमें भी नहीं आ सकती है। इसके अतिरिक्त उक्त कार्योंमें अपना द्रव्य व्यय करनेसे लोभकषायरूप अन्तरङ्ग हिंसाका त्याग होता है तथा एक बड़ा भारी लाभ और भी होता है, वह यह है कि मन्दिरादिक कार्योंमें लगाये हुए इस धनने विषय कषायादिक सेवनमें न लगाकर महत्पापोंसे दूर रखके सुकृतकी प्रवृत्ति की है; अतएव सिद्ध है कि मन्दिर प्रतिष्ठादिक कार्य उत्कृष्ट धर्म-कार्य हैं, परन्तु धर्मनिमित्तक यज्ञादिकमें पशु हवनादिकी क्रिया उद्यमीहिंसा होनेसे सर्वथा त्याज्य है। ऐसी सामान्यतया आज्ञा है।

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम् ।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ।।८०।।

अन्वयार्थौ—[**हि**] 'निश्चय करके [**धर्मः**] धर्म [**देवताभ्यः**] देवताओंसे [**प्रभवति**] उत्पन्न होता है। अतएव [**इह**] इस लोकमें [**ताभ्यः**] उनके लिए [**सर्वम्**] सब ही [**प्रदेयम्**[दे देना योग्य है' [**इति दुर्विवेककलितां**] इस प्रकार अविवेकसे ग्रसित [**धिषणां**] बुद्धिको [**प्राप्य**] पाकरके [**देहिनः**] शरीरधारी जीव [**न हिंस्याः**] नहीं मारने चाहिये।

भावार्थ—देवताओं के लिये भी किसी कारणसे प्राणिघात न करना चाहिये। कोई कोई मूर्ख कहा करते हैं कि धर्मके कर्ता जब देवता ही हैं, तो उन्हें मांसादिकी बलि जो चाहे सो देना अयोग्य नहीं है; सो यह कथन अविवेकसे भरा हुआ है, मान्य न करना चाहिए।

पूज्यनिमित्तं[1] घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति ।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ।। ८१ ।।

अन्वयार्थौ—[**पूज्यनिमित्तं**] 'पूजने योग्य पुरुषोंके लिये [**छागादीनां**] बकरा आदिक जीवोंके [**घाते**] घात करनेमें [**कः अपि**] कोई भी [**दोष**] दोष [**नास्ति**] नहीं है' [**इति**] ऐसा [**संप्रधार्य**] विचार करके [**अतिथये**] अतिथि व शिष्ट पुरुषोंके लिये [**सत्त्वसंज्ञपनम्**] जीवोंका घात [**न कार्यं**] करना योग्य नहीं है।

भावार्थ—पुरोडाशादिमेंशिष्ट पुरुषोंके लिए हिंसा करनेमें दोष नहीं है, ऐसा कहना बड़ी भारी भूल है।

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ।। ८२ ।।

अन्वयार्थौ—[**बहुसत्त्वघातजनितात्**] "बहुत प्राणियोंके घातसे उत्पन्न हुए [**अशनात्**] भोजनसे [**एकसत्त्वघातोत्थम्**] एक जीवके घातसे उत्पन्न हुआ भोजन [**वरम्**] अच्छा है" [**इति**]

१—"अतिथिके सत्कारार्थ बकरी वा बैल जो उत्तम जीव घरमें हों, उनके घात करनेमें कोई पाप नहीं है।" ऐसा स्मृतिकारोंका मत है।

ऐसा [**आकलय्य**] विचार करके [**जातु**] कदाचित् भी [**महासत्त्वस्य**] जङ्गम बड़े जीवका [**हिंसनं**] घात [**न कार्यं**] नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—"अन्नादिकके आहारमें अनेक जीव मरते हैं, अतएव उनके बदले एक बड़े भारी जीवको मारकर खा लेना अच्छा है" ऐसा कुतर्क करना भी मूर्खतापूर्ण है। क्योंकि हिंसा प्राणघात करनेसे होती है और एकेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षा पंचेन्द्रियके द्रव्यप्राण व भावप्राण अधिक होते हैं, ऐसा सिद्धान्तकारोंका मत है, इसलिये अनेक छोटे छोटे जीवोंसे भी बड़े प्राणीके घातमें अधिक हिंसा है। जब एकेन्द्रिय जीवके मारनेसे द्वीन्द्रिय जीवके मारनेमें ही असंख्यगुणा पाप है, तो पंचेन्द्रिय हिंसाका तो कहना ही क्या?

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थौ—[**अस्य**] "इस [**एकस्य एव**] एक ही [**जीवहरणेन**] जीवघात करनेसे [**बहूनाम्**] बहुतसे जीवोंकी [**रक्षा भवति**] रक्षा होती है" [**इति मत्वा**] ऐसा मानकर [**हिंस्रसत्त्वानाम्**] हिंसक जीवोंका भी [**हिंसनं**] हिंसन [**न कर्त्तव्यं**] न करना चाहिये।

भावार्थ—"सर्प, बिच्छू, सिंह, गेंडा, तेंदुआ आदिक हिंसक जीवोंको जो अनेक जीवोंके घातक हैं, मार डालनेसे उनके वध्य अनेक जीव बच जायेंगे और उससे पापकी अपेक्षा पुण्यबंध अवश्य होगा ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिये। क्योंकि, हिंसा जो करता है, वही उसके पापका भागी होता है, ऐसा शास्त्रसे सिद्ध है। फिर उसे मारकर हमको पापोपार्जन किसलिये करना चाहिये? दूसरे यह भी सोचना चाहिये कि संसारमें जो अनन्त जीव एक दूसरेके घातक हैं, उनकी चिन्ता हम कहाँ तक कर सकते हैं?

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थौ—[**बहुसत्त्वघातिनः**] "बहुत जीवोंके घाती [**अमी**] ये जीव [**जीवन्तः**] जीते रहेंगे तो [**गुरु पापम्**] अधिक पाप [**उपार्जयन्ति**] उपार्जन करेंगे," [**इति**] इस प्रकारकी [**अनुकम्पां कृत्वा**] दया करके [**हिंस्राः शरीरिणः**] हिंसक जीवोंको [**न हिंसनीयाः**] नहीं मारना चाहिये।

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम् ॥
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थौ—[**तु**] और [**बहुदुःखासंज्ञपिताः**] "अनेक दुःखोंसे पीड़ित जीव [**अचिरेण**] थोड़े ही समयमें [**दुःखविच्छित्तिम्**] दुःखाभावको [**प्रयान्ति**] प्राप्त हो जावेंगे" [**इति वासनाकृपाणीं**] इस प्रकारकी वासनारूपी या विचाररूपी तलवारको [**आदाय**] लेकर [**दुःखिनोऽपि**] दुःखी जीव भी [**न हन्तव्याः**] नहीं मारने चाहिये।

भावार्थ—रोग अथवा दारिद्र्यादि दुःखोंसे अतिशय दुःखी जीव यदि मार डाले जावेंगे, तो तत्कालीन दुःखोंसे वे छूट जावेंगे, ऐसा विश्वास कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि एक तो कोई जीव शरीरत्याग करनेसे दुःखसे नहीं छूट सकता, उसके अशुभ कर्मोंका फल उसे भोगना ही पड़ेगा; चाहे इस शरीरसे भोगे, चाहे दूसरे शरीरसे भोगे, और दूसरे के घात करनेसे प्राणपीड़न होता ही है; जो घातक को और उस वध्यजीवको हिंसाजनित अशुभबन्धका कारण होता है।

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव ।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ।। ८६ ।।

अन्वयार्थौ—[**सुखावाप्तिः**] "सुखकी प्राप्ति [**कृच्छ्रेण**] कष्टसे होती है, इसलिये [**हताः**] मारे हुए [**सुखिनः**] सुखी जीव [**सुखिनः एव**] सुखी ही [**भवन्ति**] होवेंगे" [**इति**] इस प्रकार [**तर्कमण्डलाग्रः**] कुतर्कका खड्ग [**सुखिनां घाताय**] सुखियोंके घातके लिये [**नादेयः**] अंगीकार नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—उग्र तपश्चरणादि बड़े कष्टोंसे सुख प्राप्त होता है, इसलिये सुख दुर्लभ है। जैसे सरकंडेके (मूंजके) वनमें आग लगा देनेसे वह फिर बहुत हरा हो जाता है, इसी प्रकार जीव सुखमें मार डालनेसे बिना ही कष्टके सुखको प्राप्त हो जाता है, ऐसा श्रद्धान भी कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि सुखी सत्यधर्मके साधनसे होते हैं न कि इस प्रकार सुखमें मरने मारनेसे।

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात् ।
स्वगुरोःशिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलषिता ।।८७।।

अन्वयार्थौ—[**सुधर्मम् अभिलषिता**] सत्य धर्मके अभिलाषी [**शिष्येण**] शिष्यके द्वारा [**भूयसः अभ्यासात्**] अधिक अभ्याससे [**उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य**] ज्ञान और सुगति करनेमें कारणभूत समाधिका सार प्राप्त करनेवाले [**स्वगुरोः**] अपने गुरुका [**शिरः**] मस्तक [**न कर्त्तनीयं**] नहीं काटा जाना चाहिये।

भावार्थ—गुरुमहाराज अधिक कालतक अभ्यास करके अब समाधि में मग्न हो रहे हैं, इस समय यदि ये मार दिये जावें, तो उच्चपद प्राप्त कर लेंगे; ऐसा मिथ्या श्रद्धान करके शिष्यको अपने गुरुका शिरच्छेदन करना अनुचित है। क्योंकि उन्होंने जो कुछ साधना की है, उसका फल तो वे आगे पीछे आप ही पा लेवेंगे, शिरच्छेदन करनेवाला प्राणपीड़ाजनित हिंसाका भागी होकर पापबंध करनेके अतिरिक्त और क्या पा लेगा ?

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम्[१] ।।८८।।

१—श्रीअमृतचन्दसूरि ग्रंथकर्ताके समय 'खारपटिक' नामक कोई मत भारत में प्रचलित था, जिसमें मोक्षका स्वरूप एक विलक्षण प्रकारसे माना जाता था। जिस प्रकार घड़ेमें कैद की हुई चिड़िया घड़ेके फूट जानेसे मुक्त हो जाती है, उसी प्रकार शरीर छूट जानेसे जीव मुक्त हो जाता है।

अन्वयार्थौ—[**धनलवपिपासितानां**] थोड़ेसे धनके प्यासे और [**विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्**] शिष्योंको विश्वास उत्पन्न करनेके लिये दिखलानेवाले [**खारपटिकानाम्**] खारपटिकोंके [**झटितिघटचटकमोक्षं**] शीघ्र ही घड़ेके फूटनेसे चिड़ियाके मोक्षके समान मोक्षको [**नैव श्रद्धेयं**] श्रद्धानमें नहीं लाना चाहिये।

भावार्थ—खारपटिकों के (कत्थेके रंगका कपड़ा पहिननेवाले एक प्रकारके संन्यासी) समान मोक्ष मान करके किसी अन्य जीवका तथा अपना प्राणघात नहीं कर डालना चाहिये। क्योंकि खारपटिक शरीरके छूट जानेको ही मोक्ष मानते हैं।

दृष्ट्वा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ।। ८९ ।।

अन्वयार्थौ—[**च**] और [**अशनाय**] भोजनके लिये [**पुरस्तात्**] सन्मुखसे [**आयान्तम्**] आये हुए [**अपरं**] अन्य [**क्षामकुक्षिम्**] दुर्बल उदरवाले अर्थात् भूखे पुरुषको [**दृष्ट्वा**] देख करके [**निजमांसदानरभसात्**] अपने शरीरका मांस देनेकी उत्सुकतासे [**आत्मापि**] अपनेको भी [**न आलभनीयः**] नहीं घातना चाहिये।

भावार्थ—यदि कोई मांसभक्षी जीव आकर भोजनके लिये याचना करे, तो उसको दया करके स्वशरीरके मन्दमोहसे अपने शरीरका मांस नहीं दे देना चाहिये। क्योंकि एक तो मांसभक्षी जीव दानका पात्र ही नहीं है, दूसरे मांसका दान शास्त्रसे तथा धर्मसे बहिर्भूत और निंद्य है, तीसरे 'आत्मघाती महापापी' यह उक्ति जगत्प्रसिद्ध है।

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसा विशुद्धमतिः ।। ९० ।।

अन्वयार्थौ—[**नवभङ्गविशारदान्**] नयभङ्गोंके जाननेमें प्रवीण [**गुरून्**] गुरुओंकी [**उपास्य**] उपासना करके [**विदितजिनमतरहस्यः**] जिनमतके रहस्योंका जाननेवाला [**को नाम**[1]] ऐसा कौनसा [**विशुद्धमतिः**] निर्म्मल बुद्धिधारी है जो [**अहिंसां श्रयन्**] अहिंसाका आश्रय लेकर [**मोहं**] मूढ़ताको [**विशति**] प्राप्त होगा ?

भावार्थ—जो पुरुष अहिंसा-धर्मको जान गया है, वह उपर्युक्त कुतर्कियोंके मिथ्यामतोंमें कदापि काल श्रद्धान नहीं कर सकता।

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि[2]।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ।।९०।।

अन्वयार्थौ—[**यत्**] जो [**किमपि**] कुछ भी [**प्रमादयोगात्**] प्रमाद कषायके योगसे [**इदं**] यह [**असदभिधानं**] स्वपरको हानिकारक अथवा अन्यथारूप वचन [**विधीयते**] विधिरूप किया जाता

१–नाम इति प्रशिद्धौ। २–अपिशब्दोः निश्चयात्मकश्च।

अर्थात् कहा जाता है [तत्] उसे [अनृतं अपि] निश्चयकर अनृत [विज्ञेयं] जानना चाहिये और [तद्भेदाः] उसके भेद [चत्वारः] चार [सन्ति] हैं।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ।। ९२ ।।

अन्वयार्थौ—[**यस्मिन्**] जिस वचनमें [**स्वक्षेत्रकालभावैः**] अपने द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव करके [**सत्अपि**] विद्यमान भी [**वस्तु**] वस्तु [**निषिद्धयते**] निषेधित की जाती है [**तत्**] वह [**प्रथमम्**] प्रथम [**असत्यं**] असत्य [**स्यात्**] होता है, [**यथा**] जैसे [**अत्र**] "यहां [**देवदत्तः**] देवदत्त [**नास्ति**] नहीं है।"

भावार्थ—देवदत्त नामक कोई पुरुष एक स्थानमें बैठा था, उसके विषयमें किसी पुरुषने आकर पूछा कि "देवदत्त है?" उत्तर दिया गया "नहीं है!" इस प्रकार अपने द्रव्य[1], क्षेत्र[2], काल[3], भाव[4] से अस्तिरूप (मौजूद) वस्तुको नास्तिरूप[5] (गैरमौजूदा) कहना असत्यका प्रथम भेद है।

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ।। ९३ ।।

अन्वयार्थौ—[**हि**] निश्चयकर [**यत्र**] जिस वचनमें [**तैः परक्षेत्रकालभावैः**] उन पर-द्रव्य क्षेत्र काल भावों करके [**असत्अपि**] अविद्यमान भी [**वस्तुरूपं**] वस्तुका स्वरूप [**उद्भाव्यते**] प्रकट किया जाता है [**तत्**] वह [**द्वितीयं**] दूसरा [**अनृतम्**] असत्य [**स्यात्**] होता है [**यथा**] जैसे [**अस्मिन्**] यहाँपर [**घट अस्ति**] घड़ा है।

भावार्थ—जहाँपर घड़ेके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका अस्तित्व नहीं है, वहाँपर किसीके पूछने पर कह देना कि, "यहाँ घड़ा है? यह असत्यका दूसरा भेद है।

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः ।। ९४ ।।

अन्वयार्थौ—[**च**] और [**यस्मिन्**] जिस वचनमें [**स्वरूपात्**] अपने चतुष्टयसे [**सत् अपि**] विद्यमान भी [**वस्तु**] पदार्थ [**पररूपेण**] अन्यके स्वरूपसे [**अभिधीयते**] कहा जाता है, सो [**इदं**] यह [**तृतीयं अनृतम्**] तीसरा असत्य [**विज्ञेयं**] जानना चाहिये [**यथा**] जैसे [**गौः**] बैल [**अश्वः**] घोड़ा है [**इति**] ऐसा कहना।

भावार्थ—जहाँपर बैल स्वचतुष्टयसे मौजूद है, वहाँपर कह देना कि, "यही घोड़ा है" अर्थात् कुछका कुछ कह देना, यह असत्यका तीसरा भेद है।

१-जो पदार्थ जिस रूपमें स्थित है,—सद्द्रव्यलक्षणमिति-तत्त्वार्थे। २-द्रव्य जिस क्षेत्रको रोककर स्थित हो। ३-द्रव्य जिस कालमें जिस रूपसे परिणमें। ४-द्रव्यका निज भाव। ५-इस उदाहरणमें देवदत्त अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चतुष्टयसहित होनेपर भी नास्तिरूप कहा गया है, अतएव असत्य भाषण हुआ।

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ।। ९५ ।।

अन्वयार्थौ—[**तु**] और [**इदम्**] यह [**तुरीयं**] चौथा [**अनृतं**] असत्य [**सामान्येन**] सामान्यरूपसे [**गर्हितम्**] १ गर्हित, [**अवद्यसंयुतम्**] २ सावद्य अर्थात् पापसहित [**अपि**] और [**अप्रियम्**] ३ अप्रिय इस तरह [**त्रेधा**] तीन प्रकार [**मतम्**] माना गया है, [**यत्**] जो कि [**वचनरूपं**] वचनरूप [**भवति**] होता है।

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ।। ९६ ।।

अन्वयार्थौ—[**पैशून्यहासगर्भं**] दुष्टता अथवा चुगलीरूप हास्ययुक्त [**कर्कशम्**] कठोर [**असमञ्जसं**] मिथ्याश्रद्धानपूर्ण [**च**] और [**प्रलपितं**] प्रलापरूप (बकवाद) तथा [**अन्यदपि**] और भी [**यत्**] जो [**उत्सूत्रं**] शास्त्रविरुद्ध वचन है, [**तत्सर्वं**] उस सबको [**गर्हितं**] गर्हित अर्थात् निंद्य वचन [**गदितम्**] कहा है।

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ।। ९७ ।।

अन्वयार्थौ—[**यत्**] जो [**छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि**] छेदने, भेदने, मारने, शोषणे, अथवा व्यापार, चोरी आदिके वचन हैं [**तत्**] सो सब [**सावद्यं**] पापयुक्त वचन हैं, [**यस्मात्**] क्योंकि ये [**प्राणिवधाद्याः**] प्राणिहिंसा आदि पाप [**प्रवर्त्तन्ते**] प्रवृत्त करते हैं।

भावार्थ—'**अवद्य**' शब्दका, अर्थ '**पाप**' होता है और जो वचन पापसहित होता है, उसे सावद्य कहते हैं।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम् ।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ।। ९८ ।।

अन्वयार्थौ—[**यत्**] जो वचन [**परस्य**] दूसरे जीवको [**अरतिकरं**] अप्रीतिका करनेवाला, [**भीतिकरं**] भयका करनेवाला, [**खेदकरं**] खेदका करनेवाला, [**वैरशोककलहकरम्**] वैर शोक कलहका करनेवाला तथा जो [**अपरमपि**] और भी [**तापकरं**] आतापोंका करनेवाला हो [**तत्**] वह [**सर्वं**] सब [**अप्रियं**] अप्रिय [**ज्ञेयं**] जानना।

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत् ।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ।। ९९ ।।

अन्वयार्थौ—[**यत्**] जिस कारणसे [**अस्मिन्**] इन [**सर्वस्मिन्नपि**] सब ही वचनों में

[**प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं**] प्रमादसहित योग ही एक हेतु कहा गया है, [**तस्मात्**] इसलिये [**अनृतवचने**] असत्य वचनमें [**अपि**] भी [**हिंसा**] हिंसा [**नियतं**] निश्चितरूपसे [**समवतरति**] आती है।

भावार्थ—जहाँ कषाय है, वहाँ हिंसा है और असत्य भाषण कषायसे ही होता है, अतएव असत्य वचनमें हिंसा अवश्य होती है।

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ।। १०० ।।

अन्वयार्थौ—[**सकलवितथवचनानाम्**] समस्त ही अनृत वचनोंका [**प्रमत्तयोगे**] प्रमादसहित योग [**हेतौ**] हेतु [**निर्दिष्टे सति**] निर्दिष्ट किये जानेसे [**हेयानुष्ठानादेः**] हेय उपादेयादि अनुष्ठानोंका [**अनुवदनं**] कहना [**असत्यम्**] झूठ [**न भवति**] नहीं होता।

भावार्थ—अनृत वचनके त्यागी महामुनि हेयोपादेयके उपदेश बारम्बार करते हैं, पुराण और कथाओंमें नाना प्रकार अलङ्कारगर्भित नवरसपूर्ण विषय वर्णन करते हैं, उनके पापनिंदक वचन पापी जीवोंको तीरसे अप्रिय लगते हैं, सैकड़ों जीव दुखी होते हैं, परन्तु उन्हें असत्य भाषणका दोष नहीं लगता, क्योंकि उनके वचन कषाय प्रमादसे गर्भित नहीं हैं। इसीसे कहा है कि प्रमादयुक्त अयथार्थ भाषणका नाम ही अनृत है।

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमाः मोक्तुम् ।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ।। १०१ ।।

अन्वयार्थौ—[**ये**] जो जीव [**भोगोपभोगसाधनमात्रं**] भोगोपभोग के साधनमात्र [**सावद्यम्**] सावद्यवचन [**मोक्तुम्**] छोड़ने को [**अक्षमाः**] असमर्थ हैं, [**ते अपि**] वे भी [**शेषम्**] शेष [**समस्तमपि**] समस्त ही [**अनृतं**] असत्य भाषण को [**नित्यमेव**] निरन्तर ही [**मुञ्चन्तु**] छोड़ो।

भावार्थ—त्याग दो प्रकारका है, एक सर्वथा त्याग, दूसरा एकोदेश त्याग। जिसमें से सर्वथा समस्त प्रकार के अनृतों का त्याग मुनि-धर्म में है और उसे मुनि अवश्य ही करते हैं। परन्तु गृहस्थ अपने सांसारिक प्रयोजन सावद्य वचनों के विना नहीं चला सकता, इसलिये यदि गृहस्थ सावद्य वचनों का त्याग न कर सके, तो न सही, परन्तु अन्य सब प्रकार के अनृत वचनों के बोलने का त्याग तो अवश्य कर्तव्य है।

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ।। १०२ ।।

अन्वयार्थौ—[**यत्**] जो [**प्रमत्तयोगात्**] प्रमाद कषाय के योग से [**अवितीर्णस्य**] विना दिये या वितरण किए हुए [**परिग्रहस्य**] सुवर्ण वस्त्रादि परिग्रहका [**ग्रहणं**] ग्रहण करता है, [**तत्**] उसे [**स्तेयं**] चोरी [**प्रत्येयं**] जानना चाहिये [**च**] और [**सा एव**] वही [**वधस्य**] वधके [**हेतुत्वात्**] हेतुसे [**हिंसा**] हिंसा है।

भावार्थ—'चोरी[1] करना भी हिंसा है, क्योंकि अन्य जीवके प्राण घात करनेके हेतुसे प्रमादका प्रादुर्भाव होते ही चोरी करनेवाले पुरुषके भावप्राणोंका घात होता है और चोरीके प्रकट होजानेपर उसके द्रव्यप्राणोंका भी घात होता है, इसी प्रकार इष्ट वस्तुकी वियोगजनित पीड़ासे जिसकी चोरी हुई है, उस पुरुषके भावप्राणोंका घात होता है और चौर्य्य वस्तुके हरण होनेसे द्रव्यप्राणोंका घात भी संभव है, क्योंकि चोरी की हुई वस्तु उसके द्रव्य प्राणोंकी पोषक थी।

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम् ।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ।। १०३ ।।

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो [**जनः**] पुरुष [**यस्य**] जिस जीवके [**अर्थान्**] पदार्थोंको या धनको [**हरति**] हरण करता है, [**सः**] वह पुरुष [**तस्य**] उस जीवके [**प्राणान्**] प्राणोंको [**हरति**] हरण करता है, क्योंकि जगतमें [**ये**] जो [**एते**] ये [**अर्था नाम**] धनादिक पदार्थ प्रसिद्ध हैं, [**एते**] वे सब ही [**पुंसां**] पुरुषोंके [**बहिश्चराः प्राणाः**] बाह्य प्राण [**सन्ति**] हैं।

भावार्थ—संसारी जीवोंके जिस प्रकार जीवनके कारणभूत इन्द्रिय श्वासोच्छ्वासादि अन्तः प्राण हैं, उसी प्रकार धन, धान्य, सम्पदा, बैल, घोड़ा, दास, दासी, मन्दिर, पृथ्वी आदिक जितने पदार्थ पाये जाते हैं, वे सब उनके जीवनका कारणभूत बाह्य प्राण हैं। इसलिये उनमेंसे एक भी पदार्थका वियोग होनेसे जीवोंको प्राणघात सदृश दुःख होता है, इसीसे कहते हैं चोरी साक्षात् हिंसा है।

हिंसाया. स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटामेव सा यस्मात् ।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ।। १०४ ।।

अन्वयार्थौ—**हिंसायाः**] हिंसा के [**च**] और [**स्तेयस्य**] चोरी के [**अव्याप्तिः**] अव्याप्ति दोष [**न**] नहीं है [**सा सुघटामेव**] वह हिंसा सुघट ही है, [**यस्मात्**] क्योंकि [**अन्यैः**] दूसरों के द्वारा [स्वीकृतस्य] स्वीकृत किये [**द्रव्यस्य**] द्रव्य के [**ग्रहणे**] ग्रहण करने में [**प्रमत्तयोगः**] प्रमाद का योग है।

भावार्थ—न्यायके प्रकरणमें कह चुके हैं कि जो लक्षण पदार्थके एकदेशमें व्याप्त हो, दूसरे में नहीं हो, उसे अव्याप्ति कहते हैं। अव्याप्तिदोष "यत्र यत्र स्तेयं तत्र तत्र हिंसा" अर्थात् "जहाँ चोरी होती है, वहाँ हिंसा अवश्य होती है" इस लक्षण में नहीं आता है। इसलिए यह लक्षण पदार्थ में सर्व-देशव्याप्त है, क्योंकि प्रमादयोगके विना चोरी होती ही नहीं और जिसमें प्रमादयोग है, वही हिंसा है।

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् ।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ।। १०५ ।।

१–**निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम् ।**
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ।।५७।। रत्नकरंडश्रावकाचार

अर्थात्—धरा हुआ, पड़ा हुआ, भूला हुआ, और दूसरे का बिना दिया हुआ पदार्थ ग्रहण नहीं करना और न दूसरे को देना, सो स्थूल चोरीत्याग-व्रत है।

अन्वयार्थौ—[**च**] और [**नीरागाणाम्**] वीतराग पुरुषोंके [**प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्**] प्रमाद योगरूप एक कारणके विरोधसे [**कर्म्मानुग्रहणे**] द्रव्यकर्म नोकर्मकी कर्मवर्गणाओंके ग्रहण करनेमें [**अपि**] निश्चय करके [**स्तेयस्य**] चोरीके [**अविद्यमानत्वात्**] उपस्थित न होनेसे [**तयोः**] उन दोनोंमें अर्थात् हिंसा और चोरीमें [**अतिव्याप्तिः**] अतिव्याप्ति भी [**न**] नहीं है ।

भावार्थ—**"अदत्तादानं स्तेयं"**, इस सूत्रके अनुसार विना दिये हुए पदार्थके ग्रहण करनेको चोरी कहते हैं, इसलिये वीतरागसर्वज्ञको जिस समय कि वे द्रव्य नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण करते हैं, उस समय चोरीका दोष लगना चाहिये, क्योंकि प्राप्त नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण अदत्तादान है, और ऊपर कही अदत्तादान चोरी है, तो वीतरागदेव चोरीके भागी होनेसे हिंसक सिद्ध होंगे, परन्तु वीतरागदेव हिंसक नहीं है, क्योंकि मोहनीयकर्मका अभाव हो जानेसे कर्मवर्गणाओंके ग्रहण करनेमें उनके प्रमत्त योगरूप कारणका भी अभाव है, जिससे कि उक्त लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष नहीं लग सकता, क्योंकि चोरीका लक्षण यथार्थमें इस प्रकार कहा है—**"प्रमत्तयोगात् अदत्तादानं स्तेयं"** अर्थात् "प्रमादके योगसे परद्रव्यका ग्रहण करना चोरी है ।"

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् ।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ।। १०६ ।।

अन्वयार्थौ—[**ये**] जो लोग [**निपानतोया[२]दिहरणविनिवृत्तिम्**] दूसरोंके कुआ बावड़ी आदि जलाशयोंके जल आदिको ग्रहण करनेका त्याग [**कर्तुं**] करनेको [**असमर्थाः**] असमर्थ हैं, [**तैः**] उन्हें [**अपि**] भी [**अपरं**] अन्य [**समस्तम्**] सम्पूर्ण [**अदत्तं**] विना दी हुई वस्तुओंका ग्रहण करना [**नित्यम्**] हमेशा [**परित्याज्यम्**] त्याग करना योग्य है ।

भावार्थ—अदत्त वस्तुका त्याग दो प्रकार है, एक तो **सर्वथा त्याग** जो मुनिधर्ममें पाया जाता है; दूसरा **एकोदेश त्याग** जो श्रावकधर्ममें वर्णन किया है । प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि जहां तक बन सके **सर्वथा त्याग** करे, परन्तु यदि उसका पालन न हो सके, तो **एकोदेश त्याग** तो अवश्य ही करे । **एकोदेश त्यागी** पुरुष दूसरेके कुओं, तालाबोंका जल तथा मृत्तिकादि ऐसे पदार्थ जिनका कोई मूल्य नहीं है, और जिन्हें अदत्त ग्रहण करनेसे संसारमें चोर नहीं कहा जाता—ग्रहण कर सकता है । परन्तु **सर्वथा त्यागी** पुरुष इन पदार्थोंको भी विना दिये ग्रहण नहीं कर सकता ।

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म ।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ।। १०७ ।।

अन्वयार्थौ—[**यत्**] जो [**वेदरागयोगात्**] वेदके रागरूप योगसे [**मैथुनं[३]**] स्त्री-पुरुषोंका सहवास [**अभिधीयते**] कहा जाता है, [**तत्**] सो [**अब्रह्म**] अब्रह्म है, और [**तत्र**] उस सहवासमें [**वधस्य**] प्राणिवधका [**सर्वत्र**] सब जगह [**सद्भावात्**] सद्भाव होनेसे [**हिंसा**] हिंसा [**अवतरति**] होती है ।

१—चारित्रमोहकी वेद नामक प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुआ राग ।

२—आदिशब्दात् मृत्तिकादि पदार्थजातमपि द्वयं । ३—मिथुनस्य कर्म मैथुनम् ।

भावार्थ—पुरुष, स्त्री और नपुंसक ये तीन वेद हैं। इन तीन वेदोंकी रागभावरूप उत्तेजनासे मिथुन अर्थात् जोड़ेका सहवास होना अब्रह्म कहलाता है। अब्रह्ममें हिंसाका सब स्थानोंमें सद्भाव है; बल्कि यों कहना चाहिये, कि विना हिंसाके अब्रह्म होता ही नहीं है, अब्रह्ममें हिंसा कई प्रकारसे घटित होती है, यथा—

१ स्त्रीके योनि, नाभि, कुच, काँख आदि स्थानोंमें सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीव सर्वदा उत्पन्न होते रहते हैं; और मैथुनमें उनके द्रव्यप्राणोंका घात अवश्य ही होता है।

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥ १०८॥

अन्वयार्थौ—[**यद्वत्**] जिस प्रकार [**तिलनाल्यां**] तिलोंकी नलीमें [**तप्तायसि विनिहिते**] तप्त लोहके डालनेसे [**तिलाः**] तिल [**हिंस्यन्ते**] नष्ट होते हैं—भुन जाते हैं, [**तद्वत्**] उसी प्रकार [**मैथुने**] मैथुनके समय [**योनौ**] योनिमें भी [**बहवो जीवाः**] बहुतसे जीव [**हिंस्यन्ते**] मरते हैं।

यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्॥ १०९॥

अन्वयार्थौ—और [**अपि**] इसके अतिरिक्त [**मदनोद्रेकात्**] कामकी उत्कटतासे [**यत् किञ्चित्**] जो कुछ [**अनङ्गरमणादि**] अनङ्गरमणादि[1] [**क्रियते**] किया जाता है [**तत्रापि**] उसमें भी [**रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्**] रागादिकोंकी उत्पत्तिके वशसे [**हिंसा**] हिंसा [**भवति**] होती है।

भावार्थ—रागादिक भावोंकी तीव्रताके विना अनंगक्रीड़ाका होना असंभव है, और जहां रागादिकोंकी अधिकता है वहां हिंसा है, अतएव अनङ्गक्रीड़ा भी हिंसा है।

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्॥ ११०॥

अन्वयार्थौ—[**ये**] जो जीव [**मोहात्**] मोहके कारण [**निजकलत्रमात्रं**] अपनी विवाहिता स्त्रीमात्रको [**परिहर्तुं**] छोड़नेको [**हि**] निश्चय करके [**न शक्नुवन्ति**] समर्थ नहीं हैं, [**तैः**] उन्हें [**निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं अपि**] अवशेष स्त्रियोंका सेवन तो अवश्य ही [**न**] नहीं [**कार्यम्**] करना चाहिये[2]।

१—सहवास करनेके योग्य योनि आदि अंगोंसे भिन्न गुदा हस्त आदि अंगोंके द्वारा तथा गाय, भैंस आदि पशुओंमें जो काम क्रीड़ाकी जाती है, उसे अनंगक्रीड़ा कहते हैं।

२—**न च परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।**
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि॥ ५९॥—रत्नकरण्डश्रावकाचारे॥

अर्थात्—जो मनुष्य पापके भयसे परस्त्रीके पास न जाता है और न दूसरेको जाने देता है, वह **परस्त्रीत्यागी** अथवा **स्वदारसंतोष** व्रती है। जाना अर्थात् सहवास करना।

भावार्थ—अब्रह्मका त्याग भी **एकोदेश त्याग** और **सर्वदेश त्याग** रूप दो प्रकारका है। **सर्वदेश त्यागके** अधिकारी मुनि हैं, सो जहांतक हो सके **सर्वदेश त्याग** करना चाहिये, और जो इतना सामर्थ्य न हो, तो **एकोदेश त्याग** रूप श्रावकधर्म तो अवश्य ही धारण करना चाहिये और उस श्रावकधर्ममें अपनी विवाहिता स्त्रीके अतिरिक्त वेश्या, दासी, परस्त्री, कुमारिकाओंके सर्वथा त्यागका वर्णन किया है।

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ।। १११ ।।

अन्वयार्थौ—[**इयं**] यह [**या**] जो [**मूर्च्छानाम**] मूर्च्छा है [**एषः**] इसको ही [**हि**] निश्चय करके [**परिग्रहः**] परिग्रह [**विज्ञातव्यः**] जानना चाहिये, [**तु**] और [**मोहोदयात्**] मोहके उदयसे [**उदीर्णः**] उत्पन्न हुआ [**ममत्वपरिणामः**] ममत्वरूप परिणाम ही [**मूर्च्छा**] मूर्च्छा है।

भावार्थ—मोहके उदयसे भावोंका ममत्वरूप परिणमन होना मूर्च्छा है, और मूर्च्छा ही परिग्रह है।

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेषसङ्गेभ्यः ।। ११२ ।।

अन्वयार्थौ—[**परिग्रहत्वस्य**] परिग्रहत्वपनेका [**मूर्छालक्षणकरणात्**] मूर्च्छा लक्षण करनेसे [**व्याप्तिः**] व्याप्ति[1] [**सुघटा**] भले प्रकार घटित होती है, क्योंकि, [**शेषसङ्गेभ्यः**] अन्य सम्पूर्ण परिग्रहके [**विना अपि**] विना भी [**मूर्छावान्**] मूर्च्छा करनेवाला पुरुष [**किल**] निश्चयकर [**सग्रन्थः**] बाह्य परिग्रह संयुक्त है।

भावार्थ—यदि कोई पुरुष सर्वथा नग्न अर्थात् सब प्रकारके परिग्रहोंसे रहित हो, परन्तु उसके अन्तरंगमें मूर्छाका सद्भाव हो, तो वह परिग्रहवान् ही कहलावेगा,--परिग्रह रहित नहीं; क्योंकि "जहां जहां मूर्च्छा होती है, वहां वहां परिग्रह अवश्य ही होता है" ऐसा नियम है, और परिग्रहके उक्त लक्षणमें अव्याप्तिदोषका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरङ्गः।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वम् ।। ११३ ।।

अन्वयार्थौ—[**यदि**] जो [**एवं**] ऐसा [**भवति**] होता अर्थात् मूर्छा ही परिग्रह होता, [**तदा**] तो [**खलु**] निश्चय करके [**बहिरङ्गः परिग्रहः**] बाह्य परिग्रह [**कः अपि**] कोई भी [**न**] न [**भवति**] होता। सो ऐसा नहीं है, [**यतः**] क्योंकि [**असौ**] यह बाह्य परिग्रह [**मूर्छानिमित्तत्वम्**] मूर्च्छाके निमित्तपनेको [**नितरां**] अतिशयतासे [**धत्ते**] धारण करता है।

भावार्थ—"परिग्रहके अन्तरङ्गपरिग्रह और बहिरङ्गपरिग्रह ऐसे दो भेद किये गये हैं, सो यदि परिग्रहका लक्षण 'मूर्च्छा वा इच्छा' करोगे, तो फिर बाह्य पदार्थोंमें परिग्रहत्व सिद्ध ही नहीं होगा,

१—जहां लक्षण हो, वहां लक्ष्य भी हो इस प्रकार साहचर्यके नियमको व्याप्ति कहते हैं।

क्योंकि मूर्च्छालक्षण अन्तरंग परिणामोंसे ही सम्बन्ध रखता है" ऐसा यदि कोई तर्क करे, तो उसका समाधान यह है कि मूर्छाकी उत्पत्तिमें बाह्य धन धान्यादि पदार्थ ही कारणभूत हैं, अतएव बाह्य पदार्थोंमें कारणमें कार्यके उपचारसे, परिग्रहत्व मुख्यतासे सिद्ध होता ही है और '**मूर्छा परिग्रहः**' यह लक्षण भी अबाधित रहता है।

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ।। ११४ ।।

अन्वयार्थौ—[**एवं**] इस प्रकार [**परिग्रहस्य**] बाह्य परिग्रहकी [**अतिव्याप्तिः**] अतिव्याप्ति [**स्यात्**] होती है, [**इति चेत्**] ऐसा कदाचित् कहो तो [**एवं**] ऐसा [**न**] नहीं [**भवेत्**] हो सकता, [**यस्मात्**] क्योंकि [**अकषायाणां**] कषाय रहित अर्थात् वीतराग पुरुषोंके [**कर्मग्रहणे**] कार्मणवर्गणाके ग्रहणमें [**मूर्छा**] मूर्छा [**नास्ति**] नहीं है।

भावार्थ—"बाह्यपदार्थोंमें द्रव्यपरिग्रहत्व मान लेनेसे अतिव्याप्तिदोषका सद्भाव होता है, (क्योंकि, उक्त लक्षण लक्ष्यके अतिरिक्त अलक्ष्यमें भी पाया जाता है,) अर्थात् वीतरागी पुरुषोंके कार्मणवर्गणाके ग्रहणमें द्रव्यपरिग्रहत्व सिद्ध होता है" ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो कहना चाहिये कि "वीतराग पुरुषोंके कार्मणवर्गणाके ग्रहणमें सर्वथा ही मूर्च्छा नहीं है और 'जहां जहां मूर्च्छा नहीं है, वहां वहां परिग्रह नहीं है, तथा जहां जहां परिग्रह है वहां वहां मूर्च्छा अवश्य है,' इस प्रकार इसकी व्याप्ति होती है, अतएव तुम्हारा दिया हुआ दोष नहीं लग सकता।

अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ।। ११५ ।।

अन्वयार्थौ—[**सः**] वह परिग्रह [**अतिसंक्षेपात्**] अत्यन्त संक्षिप्ततासे [**आभ्यन्तरः**] अन्तरङ्ग [**च**] और [**बाह्यः**] बहिरङ्ग [**द्विविधः**] दो प्रकार [**भवेत्**] होता है, [**च**] और [**प्रथमः**] पहिला अन्तरङ्ग परिग्रह [**चतुर्दशविधः**] चौदह प्रकार [**तु**] तथा [**द्वितीयः**] दूसरा बहिरङ्ग परिग्रह [**द्विविधः**] दो प्रकार [**भवति**] होता है।

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ।। ११६ ।।

अन्वयार्थौ—[**मिथ्यात्ववेदरागाः**] मिथ्यात्व[१], स्त्री[२], पुरुष[३], और नपुंसक[४] वेदके राग [**तथैव च**] इसी प्रकार [**हास्यादयः**] हास्यादिक अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा[५] ये [**षड् दोषाः**] छह दोष [**च**] और [**चत्वारः**] चार अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी, और संज्वलन ये चार [**कषायाः**] कषायभाव इस प्रकार [**आभ्यन्तरा ग्रन्थाः**] अन्तरङ्गके परिग्रह [**चतुर्दश**] चौदह हैं।

१—तत्त्वार्थका अश्रद्धान। २—पुरुषकी अभिलाषारूप परिणाम। ३—स्त्रीकी अभिलाषारूप परिणाम। ४—स्त्री पुरुष दोनोंकी अभिलाषारूप परिणाम। ५—ग्लानि।

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः[1] कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्॥ ११७॥

अन्वयार्थौ—[**अथ**] इसके अनन्तर [**बाह्यस्य**] बहिरङ्ग [**परिग्रहस्य**] परिग्रहके [**निश्चित्तसचित्तौ**] अचित्त[2] और सचित्त[3] ये [**द्वौ**] दो [**भेदौ**] भेद हैं, सो [**एषः**] ये [**सर्वः**] समस्त [**अपि**] ही [**सङ्गः**] परिग्रह [**कदापि**] किसी कालमें भी [**हिंसाम्**] हिंसाको [**न**] नहीं [**अतिवर्तते**] उल्लङ्घन करते अर्थात् कोई भी परिग्रह किसी समय हिंसारहित नहीं है।

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः॥ ११८॥

अन्वयार्थौ—[**जिनप्रवचनज्ञाः**] जैनसिद्धान्तके ज्ञाता [**आचार्याः**] आचार्य [**उभयपरिग्रहवर्जनम्**] दोनों प्रकारके परिग्रहके त्यागको [**अहिंसा**] अहिंसा [**इति**] ऐसे और [**द्विविधपरिग्रहवहनं**] दोनों प्रकारके परिग्रहके धारणको [**हिंसा इति**] हिंसा ऐसा [**सूचयन्ति**] सूचन करते हैं।

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वम्॥ ११९॥

अन्वयार्थौ—[**हिंसापर्य्यायत्वात्**] हिंसाके पर्य्यायरूप होनेसे [**अन्तरङ्गसङ्गेषु**] अन्तरङ्ग परिग्रहोंमें [**हिंसा**] हिंसा [**सिद्धा**] स्वयंसिद्ध है, [**तु**] और [**बहिरङ्गेषु**] बहिरङ्ग परिग्रहोंमें [**मूर्छा**] ममत्व परिणाम [**एव**] ही [**हिंसात्वम्**] हिंसा भावको [**नियतम्**] निश्चयसे [**प्रयातु**] प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—अन्तरङ्ग परिग्रहके जो चौदह भेद हैं, वे सब ही हिंसाके पर्याय हैं, क्योंकि विभावपरिणाम हैं, अतएव अन्तरङ्ग परिग्रह स्वयं हिंसारूप हुआ और बहिरङ्ग परिग्रह ममत्व परिणामोंके बिना नहीं होता, इस कारण उसमें भी हिंसा है। यहां ध्यान रखना चाहिये कि ममत्व परिणामोंसे ही परिग्रह होता है, निर्ममत्वसे नहीं, केवली तीर्थंकरके समवसरणकी विभूति ममत्वरहित होनेसे परिग्रह नहीं है।

एवं न विशेषः स्यादुन्दुररिपुहरिणशावकादीनाम्।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्छाविशेषेण॥ १२०॥

अन्वयार्थौ—[**एवं**] यदि ऐसा ही है अर्थात् बहिरङ्गमें ममत्व परिणामका नाम ही मूर्छा है, तो [**उन्दुर[4]रिपुहरिणशावकादीनाम्**] बिल्ली तथा हरिणके बच्चे आदिकोंमें [**विशेष**] कुछ विशेषता [**न स्यात्**] न होवे, सो [**एवं**] ऐसा [**न**] नहीं [**भवति**] होता, क्योंकि [**मूर्छाविशेषेण**] ममत्वपरिणामोंकी विशेषतासे [**तेषां**] उन बिलाव तथा हरिणके बच्चे प्रमुख जीवोंके [**विशेषः**] विशेषता है, अर्थात् समानता नहीं है।

१–नैष कदाचित्सङ्ग इत्यपि पाठः। २–सुवर्ण, रजत, मन्दिर वस्त्रादिक चेतनाहीन पदार्थ। ३–पुत्र, कलत्र, दासी, दास, प्रमुख सचेतन पदार्थ। ४–चूहेका बैरी अर्थात् बिलाव।

हरिततृणाङ्कुरचारिणिमन्दा मृगशावके भवति मूर्छा ।
उन्दुरुनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ।। १२१ ।।

अन्वयार्थौ—[**हरिततृणाङ्कुरचारिणि**] हरे घासके अंकुर चरनेवाले [**मृगशावके**] हरिणके बच्चेमें [**मूर्छा**] मूर्छा [**मन्दा**] मन्द [**भवति**] होतो है, और [**सा एव**] वही हिंसा [**उन्दुरुनिकरोन्माथिनी**] चूहोंके समूहका उन्मथन करनेवाले [**मार्जारे**] बिलावमें [**तीव्रा**] तीव्र [**जायते**] होती है ।

भावार्थ—हरिणका बच्चा एक तौ स्वभावसे ही हरित तृणोंके पानेके अधिक शोधमें नहीं रहता, दूसरे जब उसे हरी घास मिल भी जाती है; तो थोड़ीसी आहट पाकर छोड़के भाग जाता है; परन्तु बिल्ली एक तो अपने खाद्यकी खोजमें स्वभावसे ही अधिक चेष्टित रहती है, दूसरे खाद्य मिल जानेपर वह उसमें इतनी अनुरक्त होती है कि सिरपर लट्ठ पड़ जावें तो भी उसे नहीं छोड़ती, अतएव हरिण और बिल्ली ये दो मन्द मूर्छा और तीव्र मूर्छाके अच्छे सरल और प्रकट उदाहरण हैं। इन ममत्वपरिणामोंको विशेषतासे ही परिग्रह विशेष होता है, ऐसा निश्चय जानना चाहिये ।

निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात् ।
औधस्यखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव ।। १२२ ।।

अन्वयार्थौ—[**औधस्यखण्डयोः**] दूध और खांड (शक्कर) में [**माधुर्यप्रीतिभेद इव**] मधुरताके प्रीतिभेदके समान [**इह**] इस लोकमें [**हि**] निश्चयकर [**कारणविशेषात्**] कारणकी विशेषतासे [**कार्यविशेषः**] कार्यका विशेषरूप [**निर्बाधं**] बाधा रहित [**संसिध्येत्**] भले प्रकार सिद्ध होता है ।

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये ।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ।। १२३ ।।

अन्वयार्थौ—[**किल**] निश्चयकर [**मन्दमाधुर्ये**] अल्प मिठासवाले [**दुग्धे**] दूधमें [**माधुर्यप्रीतिः**] मिठासकी रुचि [**मन्दा**] थोड़ी [**एव**] ही [**व्यपदिश्यते**] कही जाती है, और [**सा एव**] वही मिठासकी रुचि [**उत्कटमाधुर्ये**] अत्यन्त मिठासवाली [**खण्डे**] खांड अर्थात् शक्करमें [**तीव्रा**] अधिक कही जाती है ।

भावार्थ—जो पुरुष मिष्ठरसका लोलुपी होता है, उसे दूधकी अपेक्षा शक्करमें अधिक प्रीति होती है; इसी प्रकार बाह्य परिग्रहोंका अल्प रुचिकर और विशेष रुचिकर कारण पाकर अन्तरंग परिणाम होते हैं । बहुत आरम्भ परिग्रह व्यापार होता है, तो ममत्व भी अधिक होता है, और जो परिग्रह अल्प होता है, तो ममत्व भी अल्प होता है । हां, किसी किसी पुरुषके परिग्रहके अल्प होते हुए भी अभिलाषारूप ममत्वभाव अधिक होते हैं । परन्तु इसमें आगामी कालमें होनेवाले बाह्य परिग्रहका सङ्कल्प कारणभूत समझना चाहिये, परन्तु यदि कोई पुरुष परिग्रहको अंगीकार करता जावे और कहे कि मेरे अन्तरंगमें ममत्वभाव नहीं है तो इसे सर्वथा झूठ समझना चाहिये, क्योंकि हिंसा तो परिणामोंके

बिना ही शरीरादिक बाह्य निमित्त पाकर हो सकती है, परन्तु ममत्व अर्थात् मूर्छा परिग्रहको अंगीकार किये विना सर्वथा नहीं होती। तथा परिग्रहके संग्रहमें ममत्व परिणाम ही कारण होते हैं। अतएव ममत्व परिणामोंके परिहारके लिये बाह्यपरिग्रह त्यागना भी अत्यावश्यक है।

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम् ।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः ।। १२४ ।।

अन्वयार्थौ—[**प्रथमम्**] पहले [**एव**] ही [**तत्त्वार्थाश्रद्धाने**] तत्त्वके[1] अर्थके अश्रद्धानमें जिसे [**निर्युक्तं**] संयुक्त किया है ऐसे [**मिथ्यात्वम्**] मिथ्यात्वको[2] [**च**] तथा [**सम्यग्दर्शनचौराः**] सम्यग्दर्शनके चोर [**चत्वारः**] चार [**प्रथमकषायाः**] पहले कषाय अर्थात् अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभः—

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः ।
नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति ।। १२५ ।।

अन्वयार्थौ—[**च**] और [**द्वितीयान्**] दूसरे कषाय अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभको [**प्रविहाय**] छोड़कर [**देशचरित्रस्य**] देशचारित्रके [**सन्मुखायातः**] सन्मुख आता है, [**हि**] क्योंकि [**ते**] वे [**कषायाः**] कषाय [**नियतं**] निरन्तर [**देशचरित्रं**] एकोदेशचारित्रको [**निरुन्धन्ति**] रोकते हैं।

भावार्थ—तत्त्वार्थका श्रद्धान न होना ही मिथ्यात्व है। क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चार कषाय हैं। इन प्रत्येकके अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी और संज्वलन ये चार चार भेद होकर सब सोलह भेद होते हैं। इनमेंसे कषायोंके प्रथम चार भेद अर्थात् अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबंधी लोभ ये सम्यग्दर्शनके चोर हैं, क्योंकि इनका क्षय हुए बिना अथवा उपशम हुए विना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध मान, माया और लोभ एकोदेश चारित्रको (श्रावक व्रतको) रोकते हैं, इसलिये इन्हें अप्रत्याख्याना-[3] वरणी कहते हैं।

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम् ।
कर्त्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ।। १२६ ।।

अन्वयार्थौ—अतएव [**निजशक्त्या**] अपनी शक्तिसे [**मार्दवशौचादिभावनया**] मार्दव, शौच, संयमादि दशलाक्षणिक धर्मोंके द्वारा [**शेषाणां**] अवशेष [**सर्वेषाम्**] सम्पूर्ण [**अन्तरङ्गसङ्गानाम्**] अन्तरंग परिग्रहोंका [**परिहारः**] त्याग [**कर्त्तव्यः**] करना चाहिये।

१—जैसे हिंसाके प्रकरणमें कहा गया है कि किसी पुरुषसे यदि बाह्य हिंसा हो जावे और उसके परिणाम उस हिंसाके करनेसे न होवें अर्थात् शुद्ध होवें, तो वह हिंसाका भागी नहीं होता।

२—मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, और सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व।

३—अ=ईषत्=थोड़ा, प्रत्याख्यान=त्यागको, आवरण=आच्छादित करनेवाला।

भावार्थ—प्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया और लोभ सकल संयमको रोकते हैं, इसलिये इनके नाशसे ही मुनिपद प्राप्त होता है, और संज्वलन संयमके साथ देदीप्यमान रहता है; तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हास्यादिक छह व तीन वेदके नाशसे यथाख्यातचारित्रकी प्राप्ति होती है, इसलिये जहांतक बने, इन सबका त्याग करना चाहिये और जो न बने, तो श्रावकधर्ममें मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी चतुष्क और अप्रत्याख्यानावरणी चतुष्कका त्याग तो अवश्य ही करना चाहिये ।

बहिरङ्गादपि सङ्गात् यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः ।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ।। १२७ ।।

अन्वयार्थौ—[**वा**] तथा [**तम्**] उस बाह्यपरिग्रहको चाहे वह [**अचित्तं**] अचित्त हो [**वा**] अथवा [**सचित्तं**] सचित्त हो, [**अशेषं**] सम्पूर्ण ही [**परिवर्जयेत्**] छोड़ देना चाहिये [**यस्मात्**] क्योंकि [**बहिरङ्गात्**] बहिरंग [**सङ्गात्**] परिग्रहसे [**अपि**] भी [**अनुचितः**] अयोग्य अथवा निंद्य [**असंयमः**] असंयम [**प्रभवति**] होता है ।

भावार्थ—बाह्य परिग्रहका त्याग किये विना संयम चारित्र नहीं हो सकता इसलिये सचित्त अचित्त दोनों प्रकारके बाह्य परिग्रहोंका सर्वथा त्याग करना ही कल्याणकारी है ।

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः ।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम् ।। १२८ ।।

अन्वयार्थौ—[**अपि**] और [**यः**] जो [**धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः**] धन, धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदादिक [**त्यक्तुं**] छोड़नेको [**न शक्यः**] समर्थ न हो, [**सः**] वह परिग्रह [**अपि**] भी [**तनू**] न्यून [**करणीयः**] करना चाहिये, [**यतः**] क्योंकि [**निवृत्तिरूपं**] त्यागरूप ही [**तत्त्वम्**] वस्तुका स्वरूप है ।

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा ।
हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ।। १२९ ।।

अन्वयार्थौ—[**यस्मात्**] क्योंकि, [**रात्रौ**] रात्रिमें [**भुञ्जानानां**] भोजन करनेवालोंके [**हिंसा**] हिंसा [**अनिवारिता**] अनिवारित अर्थात् जिसका निवारण न हो सके [**भवति**] होती है, [**तस्मात्**] इसलिए [**हिंसाविरतैः**] हिंसाके त्यागियोंको [**रात्रिभुक्तिः अपि**] रात्रिको भोजन करना भी [**त्यक्तव्या**] त्याग करना चाहिये ।

भावार्थ—जो पुरुष हिंसाके त्यागी हैं, उन्हें रात्रिभोजनका त्याग अवश्य करना चाहिये ।

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम् ।
रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ।। १३० ।।

अन्वयार्थौ—[**अनिवृत्तिः**] अत्याग भाव [**रागाद्युदयपरत्वात्**] रागादिक भावोंके उदयकी उत्कटतासे [**हिंसाम्**] हिंसाको [**न अतिवर्त्तते**] उल्लंघन करके नहीं वर्तते हैं, तो [**रात्रिं दिवम्**]

रात्रि और दिनको [आहरतः] आहार करनेवालोंके [हि] निश्चयकर [हिंसा] हिंसा [कथं] कैसे [न संभवति] संभव नहीं होती ?

भावार्थ—जिस जीव के तीव्र राग भाव होते हैं, वह त्याग नहीं कर सकता है, इसलिये जिसको भोजनसे अधिक राग होगा, वही रात्रि दिन खावेगा और जहां राग है वहाँ हिंसा अवश्य है।

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ।। १३१ ।।

अन्वयार्थौ—[यदि एवं] यदि ऐसा है अर्थात् सदाकाल भोजन करनेमें हिंसा है, [तर्हि] तो [दिवा भोजनस्य] दिनके भोजनका ['परिहारः] त्याग [कर्त्तव्यः] करना चाहिये, [तु] और [निशायां] रात्रिमें [भोक्तव्यं] भोजन करना चाहिये, क्योंकि [इत्थं] इस प्रकार से [हिंसा] हिंसा [नित्यं] सदाकाल [न] नहीं [भवति] होगी। इसका उत्तर आगे कहते हैं।

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ।। १३२ ।।

अन्वयार्थौ—[एवं न] ऐसा नहीं है। क्योंकि, [अन्नकवलस्य] अन्न के ग्रासके (कौरके) [भुक्तेः] भोजनसे [मांसकवलस्य] मांसके ग्रासके [भुक्तौ इव] भोजनमें जैसे राग अधिक होता है वैसे ही [वासरभुक्तः] दिनके भोजनसे [रजनिभुक्तौ] रात्रि-भोजन में [हि] निश्चयकर [रागाधिकः] अधिक राग [भवति] होता है।

भावार्थ—उदर-भरण की अपेक्षा सब प्रकार के भोजन समान हैं, परन्तु अन्नके भोजन में जिस प्रकार साधारण रागभाव है, वैसा मांस-भोजनमें नहीं है। मांस-भोजनमें विशेष रागभाव है, क्योंकि अन्नका भोजन सब मनुष्योंको सहजही मिलता है, और मांसका भोजन अतिशय कामादिककी अपेक्षा अथवा शरीरादिकके स्नेहकी अपेक्षा विशेष प्रयत्नसे किया जाता है। इसी प्रकार दिनका भोजन सब मनुष्योंके सहज ही होता है, इसलिये उसमें साधारण रागभाव होता है, परन्तु रात्रिके भोजनमें शरीरादिक या कामादिक पोषणकी अपेक्षा विशेष रागभाव होता है;अतएव रात्रि-भोजनही त्याज्य है।

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ।। १३३ ।।

अन्वयार्थौ—तथा [अर्कालोकेन विना] सूर्यके प्रकाशके विना रात्रिमें [भुञ्जानः] भोजन करनेवाला पुरुष [बोधितः प्रदीपे] जलाये हुए दीपकमें [अपि] भी [भोज्यजुषां] भोजनमें मिले हुए [सूक्ष्मजीवानाम्] सूक्ष्म-जन्तुओंकी [हिंसा] हिंसाको [कथं] किस प्रकार [परिहरेत्] दूर कर सकेगा ?

भावार्थ—दीपकके प्रकाशमें सूक्ष्म जंतु दृष्टिगोचर नहीं हो सकते, तथा रात्रिमें दीपकके प्रकाशसे नाना प्रकारके ऐसे छोटे बड़े जीवोंका संचार होता है, जो दिनमे कभी दिखाई भी नहीं देते, अतएव रात्रि-भोजनमें प्रत्यक्ष हिंसा है, और जो रात्रि-भोजन करेगा, वह हिंसासे कभी नहीं बच सकेगा।

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः ।।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ।। १३४ ।।

अन्वयार्थौ—[**वा**] अथवा [**बहुप्रलपितैः**] बहुत प्रलापसे [**किं**] क्या ? [**यः**] जो पुरुष [**मनोवचनकायैः**] मन, वचन और कायसे [**रात्रिभुक्तिं**] रात्रि-भोजनका [**परिहरति**] त्याग देता है, [**सः**] वह [**सततम्**] निरन्तर [**अहिंसा**] अहिंसाको [**पालयति**] पालन करता है, [**इति सिद्धं**] ऐसा सिद्ध हुआ।

भावार्थ—जिस महाभाग्यने रात्रि-भोजनका सर्वथा त्याग कर दिया है, वही सच्चा अहिंसक है। रात्रि-भोजन त्यागके विना अहिंसाव्रत की सिद्धि नहीं होती, अतएव कोई कोई आचार्य इसे अहिंसा अणुव्रत में गर्भित करते हैं।

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः ।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ।। १३५ ।।

अन्वयार्थौ—[**इति**] इस प्रकार[1] [**अत्र**] इस लोकमें [**ये**] जो [**स्वहितकामाः**] अपने हितके वांछक [**मोक्षस्य**] मोक्षके [**त्रितयात्मनि**] रत्नत्रयात्मक[2] [**मार्गे**] मार्गमें [**अनुपरतं**] सर्वदा उपरत हुए बिना [**प्रयतन्ते**] प्रयत्न करते हैं, [**ते**] वे पुरुष [**मुक्तिम्**] मुक्तिको [**अचिरेण**] शीघ्र ही [**प्रयान्ति**] गमन करते हैं।

भावार्थ—इस जीवका हित मोक्ष है, क्योंकि अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार सुख नहीं है; अतएव मोक्षकी प्राप्ति का उपाय करना परम कर्तव्य है। जैसे किसी नगरमें पहुंचने के लिये उस नगर के सन्मुख निरन्तर गमन करना पड़ता है, उसी प्रकार मोक्षरूप नगरमें शीघ्र पहुंचने के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मार्गोंके सन्मुख होकर चलना पड़ता है।

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ।। १३६ ।।

अन्वयार्थौ—[**किल**] निश्चय करके [**परिधयः इव**] जिस तरह परिधियाँ [**नगराणि**] नगरोंकी रक्षा करती हैं उसी तरह [**शीलानि**] तीनगुणव्रत,[3] और चार शिक्षाव्रत[4] ये सप्त शील [**व्रतानि**] पाँचों अणुव्रतोंका [**पालयन्ति**] पालन करते अर्थात् रक्षा करते हैं, [**तस्मात्**] अतएव [**व्रतपालनाय**] व्रतोंका पालन करनेके लिये [**शीलानि**] सातशीलव्रतों को [**अपि**] भी [**पालनीयानि**] पालन करना चाहिये।

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः ।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता ।। १३७ ।।

१—पूर्व कथनके अनुसार। २—तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, विशेषपरिज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और हिंसावर्जनरूप सम्यक् चारित्र। ३—दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत। ४-सामयिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण और अतिथिसंविभाग।

अन्वयार्थौ—[**सुप्रसिद्धैः**] अच्छे प्रसिद्ध [**अभिज्ञानैः**] ग्राम, नदी, पर्वतादि नाना चिह्नोंसे [**सर्वतः**] सब ओर [**मर्यादां**] मर्यादाको [**प्रविधाय**] करके [**प्राच्यादिभ्यः**] पूर्वादि [**दिग्भ्यः**] दिशाओं से [**अविचलिता विरतिः**] गमन न करने को प्रतिज्ञा [**कर्तव्या**] करना चाहिये।

भावार्थ—प्रथम गुणव्रतका नाम दिग्व्रत है। दिग्व्रत उसे कहते हैं जिसमें उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य, अधः और ऊर्ध्व इन दश दिशाओंमें गमन न करनेकी प्रतिज्ञा यावज्जीवके लिये धारण की जाती है। यह प्रतिज्ञा दिशाओं और विदिशाओंमें नदी, पर्वत, नगरादिक प्रसिद्ध स्थानोंके सकेतसे की जाती है। जैसे उत्तरमें गंगानदी, दक्षिणमें नीलगिरि पर्वत, पूर्वमें छत्तीसगढ़, पश्चिममें खंभात, ईशानमें पटना, आग्नेयमें कटक, नैर्ऋत्यमें कावेरी नदी, और वायव्यमें आबू पर्वत तक जानेकी यदि किसी पुरुषकी प्रतिज्ञा होगी, तो वह इन नियमित स्थानोंसे आगे नहीं जासकेगा। और अधोदिशाकी प्रतिज्ञा कूप, खातिकादिकोंकी गहराईसे तथा ऊर्ध्व दिशाकी मन्दिर, पर्वतादिकोंकी ऊंचाई से की जाती है, जैसे यदि किसी पुरुषके अधो दिशामें ५० गज और ऊर्ध्वदिशामें २०० गज जानेकी प्रतिज्ञा हो, तो वह ५० गजसे नीचे कूपादिकोंमें तथा २०० गजसे ऊंचे मंदिर पर्वतों पर नहीं जासकेगा।

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥१३८॥

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो [**इति**] इस प्रकार [**नियमितदिग्भागे**] मर्यादाकृत दिशाओं के हिस्सेमें [**प्रवर्तते**] बर्ताव करता है, [**तस्य**] उस पुरुषके [**ततः**] उस क्षेत्रसे [**बहिः**] बाहिर [**सकलासंयमविरहात्**] समस्त ही असंयमके त्यागके कारण [**पूर्णम्**] परिपूर्ण [**अहिंसाव्रतं**] अहिंसाव्रत [**भवति**] होता है।

भावार्थ—जहाँतककी मर्यादा की जाती है, उसके बहिर्गत समस्त त्रस स्थावरोंके घातका त्याग हो जाता है और इस कारण मर्यादासे बाहिर महाव्रत कहे गये हैं, अतएव दिग्व्रत धारण करना परमावश्यक है।

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।[1]
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥१३९॥

अन्वयार्थौ—[**च**] और [**तत्र अपि**] उस दिग्व्रत में भी [**ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्**] ग्राम, बाजार, मन्दिर, मुहल्लादिकोंका [**परिमाणं**] परिमाण [**प्रविधाय**] करके [**देशात्**] मर्यादा कृत क्षेत्र से बाहिर [**नियतकालं**] किसी नियत समयपर्यन्त [**विरमणं**] त्याग [**करणीयं**] करना चाहिये।

भावार्थ—दूसरे गुणव्रतको देशव्रत कहते हैं। दिग्व्रत और देशव्रतमें इतना अन्तर है कि दिग्व्रत में जो त्याग होता है, वह सदाकालके लिये अर्थात् यावज्जीव होता है, और देशव्रतमें कालकी मर्यादा पूर्वक वर्ष, छह महीना, मास, पक्ष वा दो दिन, चार दिन, घड़ी दो घड़ी आदिका त्याग किया जाता है, तथा दिग्व्रतमें जितने क्षेत्रकी मर्यादा की जाती है, देशव्रतमें उसके मध्यवर्त्ती थोड़ेसे क्षेत्रकी प्रतिज्ञा की जाती है, जैसे अमुक प्रदेशसे बाहिर कभी नहीं जावेंगे, यह दिग्व्रत और इतने दिन या इतने समय तक अमुक ग्राम तथा मुहल्लेसे बाहिर नहीं जावेंगे, यह देशव्रत है।

१-ग्रामापणभवनवाटिकादीनामित्यपि पाठः।

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसा विशेषेण ।।१४०।।

अन्वयार्थौ—[**इति**] इस प्रकार [**बहुदेशात् विरतः**] बहुत क्षेत्रका त्यागी [**विमलमतिः**] निर्मल बुद्धिवाला श्रावक [**तत्कालं**] उस नियमित कालमें [**तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्**] मर्यादाकृत क्षेत्रसे उत्पन्न हुई हिंसा विशेषके त्यागसे [**विशेषेण**] विशेषतासे [**अहिंसां**] अहिंसाव्रतको [**श्रयति**] अपने आश्रय करता है।

भावार्थ—दिग्व्रतमें क्षेत्र बहुत होता है, उसमेंसे किञ्चित् कालकी मर्यादापूर्वक थोडासा क्षेत्र देशव्रतमें रक्खा जाता है, अतएव बाह्य क्षेत्रकी अपेक्षा पूर्वोक्त रीतिसे सकल संयमीपनेका सद्भाव होता है। जिस प्रकार दिग्व्रतमें हिंसाका सर्व त्याग है, उस प्रकार देशव्रतमें कदाचित् सर्व हिंसाका त्याग है, यही अन्तर है।

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ।।१४१।।

अन्वयार्थौ—[**पापर्द्धि-जय-पराजय-सङ्गर-परदारगमन-चौर्याद्याः**] शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्री-गमन, चोरी आदिक[१] [**कदाचनापि**] किसी समयमें भी [**न चिन्त्याः**] नहीं चिन्तवन करना चाहिये, [**यस्मात्**] क्योंकि इन अपध्यानोंका [**केवलं**] केवल [**पापफलं**] पाप ही फल है।

भावार्थ—यह तीसरे अनर्थदंडव्रतका वर्णन है। विना प्रयोजन पाप करनेको अनर्थदंड कहते हैं—और विना प्रयोजन पाप करनेके त्यागको अनर्थदंडविरति कहते हैं। इसके पांच भेद हैं। १ अपध्यान, २ पापोपदेश, ३ प्रमादचर्या, ४ हिंसादान और ५ दुःश्रुति, जिनमेंसे यह प्रथम अपध्यान कहा गया है।

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ।।१४२।।

अन्वयार्थौ—[**विद्या वाणिज्य-मषी-कृषि-सेवा-शिल्पजीविनां**] विद्या,[२] व्यापार,[३] लेखनकला, खेती, नौकरी और कारीगरीसे जीविका करने वाले [**पुंसाम्**] पुरुषों को [**पापोपदेशदानं**] पापका उपदेश मिले ऐसा [**वचनं**] वचन [**कदाचित् अपि**] किसी समय भी [**नैव**] नहीं [**वक्तव्यम्**] बोलना चाहिये।

भावार्थ—किसी पुरुषको आजीविकाके करनेवाले नाना प्रकारके कर्म करनेका उपदेश देना, इसको पापोपदेश नामक अनर्थदंड कहते हैं। क्योंकि इससे आपको लाभ कुछ नहीं होता, केवल पाप बंध होता है।

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ।।१४३।।

१—आदि शब्दसे बध, बन्धन, अंगच्छेदन, सर्वस्व हरणादि दुष्ट चितवन भी जानना।
२—ज्योतिष, वैद्यक, सामुद्रिकादि विद्या। ३—पशुपालनादि।

अन्वयार्थौ—[**भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि**] पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, अतिशय घासवाली जगह रोंदना, पानी सींचना आदि [**च**] और [**दलफलकुसुमोच्चयान्**] पत्र फल फूल तोड़ना [**अपि**] भी [**निष्कारणं**] प्रयोजनके विना [**न कुर्यात्**] न करे।

भावार्थ—गृहस्थ त्रस जीवोंका रक्षक तो है ही, परन्तु जहाँतक बने, उसे स्थावर जीवोंकी रक्षा भी करनी चाहिये, अर्थात् जबतक कोई विशेष प्रयोजन न आ पड़े, स्थावर जीवोंकी भी निष्कारण विराधना न करे[1]। यह प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है।

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नाद् ।। १४४ ।।

अन्वयार्थौ—[**असि-धेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल-करवाल-कार्मुकादीनाम्**] छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष, आदि[2] [**हिंसायाः**] हिंसाके [**उपकरणानां**] उपकरणोंका [**वितरणम्**] वितरण अर्थात् दूसरोंको देना [**यत्नात्**] यत्नसे अर्थात् सावधानीसे [**परिहरेत्**] छोड़ दे।

भावार्थ—हिंसाके जितने साधन हैं उनके विना यदि अपना कार्य नहीं चलता हो तो रख ले, परन्तु वे साधन दूसरोंको कभी न दे, क्योंकि उक्त साधन देनेसे देनेवालेको उनसे उत्पन्न होनेवाली हिंसाके पापबधका भागी निष्कारण ही होना पड़ता है। यह हिंसाप्रदान[3] नामक चौथा अनर्थदण्ड है।

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम् ।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ।। १४५ ।।

अन्वयार्थौ--[**रागादिवर्द्धनानां**] राग द्वेष मोहादिको बढ़ानेवाली तथा [**अबोधबहुलानाम्**] बहुत करके अज्ञानतासे भरी हुई [**दुष्टकथानाम्**] दुष्ट कथाओंका[4] [**श्रवणार्जनशिक्षणादीनि**] श्रवण-सुनना, अर्जन-संग्रह, शिक्षण-सीखना आदिक [**कदाचन**] किसी भी समय [**न कुर्वीत**] न करे।

भावार्थ—दुष्टशृङ्गारादिरूप कथाओंमें न तो धर्म होता है, न किसी प्रकारकी आजीविका होती है, निष्प्रयोजन उपयोग लगाना पड़ता है, और उपयोग लगानेसे परिणाम तद्रूप होकर व्यर्थ ही पापबंध के कारण हो जाते हैं, अतएव ऐसी कथाओं का पठन-पाठन सर्वथा त्याज्य है। यह दुःश्रुति नामक पांचवाँ अनर्थदण्ड है।

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः ।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ।। १४६ ।।

१—तथाचोक्तं यशस्तिलकचम्पू-महाकाव्ये सप्तम आश्वासे उपासकाध्ययने षड्विंशकल्पे।

भूपयःपवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम् ।
यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत्कुर्य्यादयं तु यत् ।।

२—आदि शब्दसे करोंत, भाला, बरछी आदि भी समझना चाहिये। ३—श्वान, मार्जारादि हिंसक-जीवोंका पालना भी इस अनर्थदण्डमें गर्भित है। ४—कोकादि कुशास्त्र कामोद्दीपन करनेवाले हैं तथा हिंसाके प्रवर्तक हैं, अतएव दुष्ट हैं।

अन्वयार्थौ—[**सर्वानर्थप्रथमं**] सप्तव्यसनों का प्रथम[1] अथवा सम्पूर्ण अनर्थोंका मुखिया [**शौचस्य मथनं**] संतोषका नाश करनेवाला [**मायायाः**] मायाचारका [**सद्म**] घर और [**चौर्यासत्यास्पदं**] चोरी तथा असत्यका स्थान [**द्यूतम्**] जुआ [**दूरात्**] दूरसे ही [**परिहरणीयं**] त्याग कर देना चाहिये।

भावार्थ—जुआ खेलनेवाले खेलने में चोरी करते हैं और झूठ बोलते हैं, क्योंकि जब हारते हैं, तब जीतने की तृष्णा या मोहमें चोरी करते तथा असत्य बोलते हैं, और जब जीतते हैं, तब द्रव्यकी प्रचुरतासे वेश्या–गमनादि दुष्कर्म करते हैं, तथा झूठ बोलते और छिपकर चोरी करते हैं। सारांश-द्यूतक्रीड़ामें पापबंध अधिक होता है, परंतु प्रयोजन की सिद्धि कुछ भी नहीं होती, अतएव यह भी *अनर्थदण्ड है।*

एवं विधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो पुरुष [**एवं विधम्**] इस प्रकारके [**अपरमपि**[2]] अन्य भी [**अनर्थदण्डं**] अनर्थदण्डोंको [**ज्ञात्वा**] जान करके [**मुञ्चति**] त्याग करता है, [**तस्य**] उसके [**अनवद्यं**] निर्दोष [**अहिंसाव्रतं**] अहिंसाव्रत [**अनिशम्**] निरन्तर [**विजयम्**] विजय [**लभते**] प्राप्त करता है।

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थौ—[**रागद्वेषत्यागात्**] राग द्वेष के त्यागसे [**निखिलद्रव्येषु**] समस्त इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें [**साम्यम्**] साम्यभावको [**अवलम्ब्य**] अंगीकार कर [**तत्त्वोपलब्धि मूलं**] आत्मतत्त्व की प्राप्ति का मूल कारण [**सामायिकं**] सामायिक[3] [**बहुशः कार्यम्**] अनेक वार करना चाहिये।

भावार्थ—एकरूप होकर स्वरूपमें प्राप्त होनेको 'समय' कहते हैं, तथा 'समय' जिसका प्रयोजन होता है उसे 'सामायिक' कहते हैं। उक्त प्रयोजनकी अर्थात् समयकी सिद्धि साम्यभावसे होती है. अतएव साम्यभावका नाम ही सामायिक है और अपनेको सुख देनेवाली इष्ट वस्तुओंमें राग तथा दुःख देनेवाली अनिष्ट वस्तुओंमें द्वेषके त्यागको साम्यभाव कहते हैं। इस साम्यभाव के होनेपर स्वरूपमें मग्न होना परम कर्तव्य है, कदाचित् यह न हो सके, तो शुभोपयोगरूप भक्ति व तत्त्वविचारमें प्रवर्तना चाहिये, अथवा सामायिकसम्बन्धी **नमस्कार, आवर्त, शिरोनति** आदि क्रियाकाण्ड में तत्पर होना चाहिये।

अङ्गोंको भूस्पर्शकर मस्तकके नम्र करने को **नमस्कार**, हाथ जोड़कर प्रदक्षिणा करने को **आवर्त्त** और हाथ जोड़कर मस्तक नवानेको **शिरोनति** कहते हैं।

पहिले ईर्यापथ शोधनापूर्वक तीन आवर्त्त करके एक शिरोनति करे, पश्चात् '**णमो अरहंताणम्**,' आदि पाठ करके पूर्णतामें तीन आवर्त्त देकर एक शिरोनति करे, फिर कायोत्सर्ग करके तीन आवर्त्तदेकर एक शिरोनति करे। तदुपरान्त '**थोस्सामि**' इत्यादि पाठ करके पूर्णतामें एक नमस्कार कर तीन आवर्त्त

१—जुआके पश्चात् सब व्यसन प्रकट हो जाते हैं, अतएव यह सर्व व्यसनों में प्रथम और मुख्य है।
२—कौतूहलादिकम्। ३— **सम**=एकरूप होकर **अयः**=स्वरूपमें गमन अर्थात् **समय**। और समय ही है प्रयोजन जिसका सो **सामायिक** है।

देकर एक शिरोनति करे। अनन्तर कालका प्रमाणकर साम्यभाव संयुक्त शुभोपयोग या शुद्धोपयोगरूप रहे। इसको सामायिक कहते हैं। सामायिकके साधनसे सहज स्वरूपानंदकी प्राप्ति होती है।

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥ १४९ ॥

अन्वयार्थौ—[**तत्**] वह सामायिक [**रजनीदिनयोः**] रात्रि और दिनके [**अन्ते**] अन्तमें[1] [**अविचलितम्**] एकाग्रतापूर्वक [**अवश्यं**] अवश्य ही [**भावनीयं**] करना चाहिये। [**पुनः**] फिर यदि [**इतरत्र समये**] अन्य समयमें [**कृतं**] किया जावे तो, [**तत् कृतं**] वह सामायिक कार्य [**दोषाय**] दोषके हेतु [**न**] नहीं, किन्तु [**गुणाय**] गुण के लिये ही होता है।

भावार्थ—यद्यपि सामायिक सदाकाल करना परमोत्कृष्ट है, परन्तु **गृहस्थके** निर्वाह के लिये दिनमें दो बार की आज्ञा दी गई है। गृहस्थको इस आज्ञाका लोप कदापि न करना चाहिये। इन दो सन्ध्याओं के सिवाय अधिक अतिरिक्त समयमें भी करे, तो निषेध नहीं है।

सामायिकके लिये १ योग्य क्षेत्र,[2] २ योग्य काल, ३ योग्य आसन, ४ योग्य विनय, ५ मनः शुद्धि, ६ वचनशुद्धि, ७ भावशुद्धि और ८ कायशुद्धि, इन ८ बातों की अनुकूलता होना परमावश्यक है, क्योंकि इनके बिना मनुष्य के भाव निर्मल और निश्चल नहीं हो सकते।

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥ १५० ॥

अन्वयार्थौ—[**एषाम्**] इन [**सामायिकश्रितानां**] सामायिक दशाको प्राप्त हुए श्रावकोंके [**चरित्रमोहस्य**] चरित्र मोहके [**उदये अपि**] उदय होते भी [**समस्तसावद्ययोगपरिहारात्**] समस्त पापके योगों के त्यागसे [**महाव्रतम्**] महाव्रत [**भवति**] होता है।

भावार्थ— जिसमें हिंसादिक पापोंका एकोदेश त्याग होता है, उसे अणुव्रत और जिसमें सर्वथा त्याग होता है, उसे महाव्रत कहते हैं। सामायिक करते समय सर्वथा पाप-क्रियाकी निवृत्ति है। श्रावकके प्रत्याख्यानावरणी चारित्रमोहनीयका उदय होता है, परन्तु वह सामायिकके समय में समस्त-सावद्ययोगपरिहारात्' महाव्रती ही है। इस ही सामायिकके बलसे निर्ग्रन्थ लिङ्गधारी ग्यारह अङ्गका पाठी अभव्य जीव भी अहमेन्द्रपदको पाता है।

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम्।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥ १५१ ॥

१—प्रातःकाल और संध्याकालमें।

२—तथाचोक्तम्:—**योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनतिः।**
विनयेन यथाजातः कृतिकर्म्मामलं भजेत् ॥

अर्थ—योग्यकाल, योग्यआसन, योग्यस्थान योग्यमुद्रा, योग्यआवर्त्त, योग्यशिरोनति (मस्तक नमन) जिसके हो वह पुरुष यथाजात अर्थात् जिस प्रकार माताके गर्भसे उत्पन्न होनेपर बच्चा परिग्रहरहित होता है, उसी प्रकार होकर एक वस्त्र मात्र परिग्रह के धारणपूर्वक निर्मल सामायिक-क्रियाके विधानको करे।

अन्वयार्थौ—[**प्रतिदिनम्**] प्रतिदिन [**आरोपितं**] अङ्गीकार किये हुए [**सामयिकसंस्कारं**] सामायिकरूप संस्कारको [**स्थिरीकर्तुम्**] स्थिर करनेकेलिये [**द्वयोः**] दोनों [**पक्षार्द्धयोः**] पक्षोंके अर्द्ध भागमें अर्थात् अष्टमी चतुर्दशीके दिन [**उपवासः**] उपवास [**अवश्यमपि**] अवश्य ही [**कर्तव्यः**] करना चाहिये।

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे ।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ।। १५२ ।।

अन्वयार्थौ—[**मुक्तसमस्तारम्भः**] समस्त आरम्भसे मुक्त होकर [**देहादौ**] शरीरादिकमें [**ममत्वम्**] आत्मबुद्धिको [**अपहाय**] त्यागकर [**प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे**] उपवासके पूर्वदिनके आधे भागमें [**उपवासं**] उपवासको [**गृह्णीयात्**] अङ्गीकार करे।

भावार्थ—जिस दिन उपवास करना हो, उसके एक दिन पहिले दो पहरको समस्त आरंभ से ममत्व छोड़कर उपवास की प्रतिज्ञा धारण करना चाहिये।

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ।। १५३ ।।

अन्वयार्थौ—पश्चात् [**विविक्तवसतिं**] निर्जन वसतिकाओंको[1] [**श्रित्वा**] प्राप्त होकर [**समस्तसावद्ययोगम्**] सम्पूर्ण सावद्य[2] योग [**अपनीय**] त्यागकर[3] और [**सर्वेन्द्रियार्थविरतः**] सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे विरक्त होता हुआ [**कायमनोवचनगुप्तिभिः**] मनगुप्ति,[4] वचनगुप्ति[5], और कायगुप्तिसहित[6] [तिष्ठेत्] स्थित होवे।

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ।।१५४।।

अन्वयार्थौ—[**विहितसान्ध्यविधिम्**] कर ली गई है प्रातःकाल और संध्याकालीन सामायिकादि क्रिया जिसमें ऐसे [**वासरम्**] दिनको [**धर्मध्यानासक्तः**] धर्मध्यानमें लवलीन होता हुआ [**अतिवाह्य**] व्यतीत करके [**स्वाध्यायजितनिद्रः**] पठन-पाठनसे निद्राको जीतता हुआ [**शुचिसंस्तरे**] पवित्र संथारेपर [**त्रियामां**] रात्रिको [**गमयेत्**] गमावे अर्थात् पूर्ण करे।

१–प्राचीन समयमें नगर ग्रामोंके बाहिर धर्मात्मा लोग मुनियोंके ठहरनेके लिये अथवा सामायिकादि करनेके लिये कुटी बनवा दिया करते थे उन्हें वसतिका कहते थे, कई नगरोंमें ये वसतिकायें अब भी पाई जाती हैं। २–अपध्यान, अपकथन और अपचेष्टा रूप पापसहित क्रिया। ३–जिस समय सावद्य क्रियाओंका त्याग करे, उस समय "अहं समस्तसावद्ययोगविरतोस्मि" अर्थात् "मैं सम्पूर्ण पापके योगोंका त्यागी होता हूँ" ऐसी प्रतिज्ञा करे। ४–मनमें विकल्प न करना और यदि करना, तो धर्मरूप करना। ५–मौनावलम्बी रहना अथवा धर्मरूप स्तोक (थोड़ा) बोलना। ६–शरीर निश्चल रखना, यदि कुछ चेष्टा करनी हो, तो, प्रमाणानुकूल क्षेत्रमें धर्मरूप करनी।

भावार्थ—उपवास करनेवाला श्रावक उपवासके पहिलेका दिन धर्म-ध्यानमें, संध्या सामायिकादि कार्योंमें और रात्रि पठन-पाठनमें पूर्ण करे।

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥

अन्वयार्थौ—[ततः] तदुपरान्त [प्रातः] प्रभात ही [प्रोत्थाय] उठकर [तात्कालिकं] उस समयकी [क्रियाकल्पम्] क्रियाओंको [कृत्वा] करके [प्रासुकैः[1]] प्रासुक अर्थात् जीव रहित [द्रव्यैः] द्रव्योंसे [यथोक्तं] आर्ष ग्रंथोंमें जिस प्रकार कहा है उस प्रकारसे [जिनपूजां] जिनेश्वर देवकी पूजाको [निर्वर्तयेत्] करे।

भावार्थ—यद्यपि प्रोषधोपवासमें समस्त प्रकारके आरंभोंका त्याग कहा गया है, परन्तु पूजाके आरंभका त्याग नहीं कहा है। अर्थात् पूजनके लिये स्नानादिक आरंभरूप क्रिया वर्जित नहीं है। क्योंकि पूजाका पुण्य इतना अधिक है कि उसके प्रमाणमें आरंभजनित पाप गिनतीमें भी नहीं है।

प्रोषधोपवासमें भगवान्का पूजन प्रासुक द्रव्योंसे करना चाहिये, सचित्तसे नहीं।

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥

अन्वयार्थौ—[ततः] इसके पश्चात् [उक्तेन] पूर्वोक्त [विधिना] विधिसे [दिवसं] उपवासके दिनको [च] और [द्वितीयरात्रिं] दूसरी रात्रिको [नीत्वा] प्राप्त होके [च] फिर [तृतीयदिवसस्य] तीसरे दिनके [अर्धं] आधेको भी [प्रयत्नात्] अतिशय यत्नाचारपूर्वक [अतिवाहयेत्] व्यतीत करे।

भावार्थ—ऊपर कहे हुए १५३ और १५४ वें श्लोकमें जिस प्रकार उपवासके पहिले दिनके अर्घ भागको अर्थात् उपवासकी प्रतिज्ञा ग्रहण करनेके पश्चात्के समयको व्यतीत करनेकी विधि कही है, उसी प्रकार उपवासके दिनको, उपवासकी रात्रिको अर्थात् दूसरी रात्रिको, और तीसरे दिनके आधेको अर्थात् उपवासके दूसरे दिनके दोपहरपर्यन्त समयको धर्म-ध्यानमें, सामायिकादि क्रियाओंमें, और पठन-पाठनमें यत्नपूर्वक व्यतीत करना चाहिये।

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः ॥
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७॥

१—सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिललवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ॥

अर्थ—जो द्रव्य सूखा हो, पका हो, तप्त हो, आम्ल रस तथा लवण मिश्रित हो, कोल्हू, चरखी, चक्की, छुरी आदिक यंत्रोंसे छिन्न-भिन्न किया हुआ तथा संशोधित हो, सो सब प्रासुक है। यह गाथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृतटीकामें तथा केशववर्णिकृत गोम्मटसारकी संस्कृतटीकामें भी सत्य वचनके भेदोंमें कही गई है।

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो जीव [**इति**] इस प्रकार [**परिमुक्तसकलसावद्यः सन्**] सम्पूर्ण पाप क्रियाओंसे रहित होकर [**षोडशयामान्**] सोलह प्रहरोंको [**गमयति**] गमाता है, अर्थात् व्यतीत करता है, [**तस्य**] उसके [**तदानीं**] उस समय [**नियतं**] निश्चयपूर्वक [**पूर्णम्**] सम्पूर्ण [**अहिंसाव्रतं**] अहिंसाव्रत [**भवति**] होता है।

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम् ।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ।।१५८।।
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेप्यमूर्छस्य ।।१५९।। (युग्मम्)

अन्वयार्थौ—[**किल**] निश्चय करके [**अमीषाम्**] इन देशव्रती श्रावकोंके [**भोगोपभोगहेतोः**] भोगोपभोगके हेतुसे [**स्थावरहिंसा**] स्थावरजीवोंकी हिंसा [**भवेत्**] होती है, किन्तु [**भोगोपभोगविरहात्**] भोगोपभोगके विरहसे अर्थात् त्यागसे [**हिंसायाः**] हिंसाका [**लेशः अपि**] लेश भी [**न**] नहीं [**भवति**] होता, और उपवासधारी पुरुषके [**वाग्गुप्तेः**] वचनगुप्तिके होनेसे [**अनृतं**] झूठ वचन [**नास्ति**] नहीहै, [**समस्तादानविरहतः**] सम्पूर्ण अदत्तादानके त्यागसे [**स्तेयम्**] चोरी [**न**] नहीं है, [**मैथुनमुचः**] मैथुनके छोड़ देनेवालेके [**अब्रह्म**] अब्रह्म [**न**] नहीं है, और [**अङ्गे**] शरीरमें [**अमूर्छस्य**] निर्ममत्वके होनेसे [**सङ्गः**] परिग्रह [**अपि**] भी [**न**] नहीं है।

भावार्थ—यद्यपि देशव्रती गृहस्थ त्रसजीवोंकी हिंसाका त्यागी होता है, तथा भोगोपभोगके निमित्तसे स्थावरजीवोंकी रक्षा नहीं कर सकता, परन्तु उपवासके दिन वह भी हिंसाका पूर्णरूपसे त्यागी हो जाता है, क्योंकि उस दिन भोगोपभोगके त्यागसे स्थावर जीवोंके वध होनेका भी कोई कारण नहीं रहता, और उपवासमें पूर्ण अहिंसाव्रतकी पालना होनेके अतिरिक्त शेष चारों व्रत (अनृत, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रहत्याग) भी स्वयमेव पलते हैं।

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ।।१६०।।

अन्वयार्थौ—[**इत्थम्**] इस प्रकार [**अशेषितहिंसः**] सम्पूर्ण हिंसाओंसे रहित [**सः**] वह प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष [**उपचारात्**] उपचारसे या व्यवहारनयसे [**महाव्रतित्वं**] महाव्रतीपनेको [**प्रयाति**] प्राप्त होता है, [**तु**] परन्तु [**चरित्रमोहे**] चारित्रमोहके [**उदयति**] उदयरूप होनेके कारण [**संयमस्थानम्**] संयमके स्थानको अर्थात् प्रमत्तादिगुणस्थानको [**न**] नहीं [**लभते**] पाता।

भावार्थ—उपवासधारी पुरुषके पांच प्रकारके पापोंमेंसे किसी प्रकारका भी पाप नहीं होता, अतएव महाव्रती न होनेपर भी उसे उतने समयतक उपचाररूप कथनसे महाव्रती कह सकते हैं, परन्तु प्रत्याख्यानावरणी तथा संज्वलन प्रकृतिका उदय उससे दूर नहीं हुआ है, इसलिये वह छट्ठे प्रमत्तगुणस्थानको नहीं पा सकता, तथा सकलसंयमघातनी प्रकृतिके उदयसे उक्त देशव्रती श्रावकको महाव्रती नहीं कह सकते, हां महाव्रतीके समान कह सकते हैं।

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा ।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ।।१६१।।

अन्वयार्थौ—[**विरताविरतस्य**] देशव्रती श्रावकके [**भोगोपभोगमूला**] भोग[1] और उपभोगोंके[2] निमित्तसे होनेवाली [**हिंसा**] हिंसा होती है, [**अन्यतः न**] अन्य प्रकारसे नहीं होती, अतएव [**तौ**] वे दोनों अर्थात् भोग और उपभोग [**अपि**] भी [**वस्तुतत्त्वं**] वस्तुस्वरूपको [**अपि**] और [**स्वशक्तिम्**] अपनी शक्तिको [**अधिगम्य**] जानकर अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार [**त्याज्यौ**] छोड़ने योग्य हैं ।

भावार्थ—गृहस्थके भोगोपभोग पदार्थोंके निमित्तसे ही मोक्षकी अन्तरायभूत स्थावरोंकी हिंसाकृत बंध होता है, इसलिये उसको टालनेके लिये वस्तुके स्वरूपको जानना चाहिये कि कौनसी वस्तु अधिक पाप करने वाली है और कौनसी कम। यह जानने के पश्चात् अपने सामर्थ्य का विचार व अनुभव करके तदनुकूल भोगोपभोगका त्याग करना चाहिये ।

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् ।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ।।१६२।।

अन्वयार्थौ – [**ततः**] क्योंकि [**एकम्**] एक साधारण देहको कन्दमूलादिकको [**अपि**] भी [**प्रजिघांसुः**] घातनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष [**अनन्तानि**] अनन्त जीव [**निहन्ति**] मारता है, [**अतः**] अतएव [**अशेषाणां**] सम्पूर्ण ही [**अनन्तकायानाम्**] अनन्तकायोंका [**परिहरणम्**] परित्याग [**अवश्यम्**] अवश्य ही [**करणीयम्**] करना चाहिये ।

भावार्थ—साधारण वनस्पति तथा अन्य पदार्थ जो अनन्तकाय[3] होते हैं, अभक्ष्य हैं । यहाँपर यह दिखलाना उपयोगी होगा, कि साधारण वनस्पतिमें जीवों की संख्या कितनी रहती है । ग्रन्थान्तरोंमें इसका परिमाण नीचे लिखे अनुसार कहा हैः—

"अदरख आदि साधारण वनस्पतियोंमें लोकके जितने प्रदेश हैं उनसे असंख्यातगुणें जीव पाये जाते हैं, जिन्हें **स्कन्ध** कहते हैं, जैसे—अपना शरीर । इन स्कन्धोंमें असंख्यात लोक परिमित

१- जो वस्तु एक बार भोगी जावे उसे भोग कहते हैं, जैसे भोजन, पान, गन्ध, पुष्पादि । २–जो वस्तु बारम्बार भोगी जाये उसे उपभोग कहते हैं, जैसे, स्त्री, शय्या, आसन, वस्त्र, अलङ्कार, वाहनादि । ३–जीव दो प्रकारके होते हैं, एक **त्रस** दूसरे **स्थावर,** द्वीन्द्रियादि पचेंद्रियपर्य्यन्त **त्रस** और पृथिव्यादि **स्थावर** कहलाते हैं। **स्थावर** पाँच प्रकार के होते हैं, **पृथ्वी, अप, तेज, वायु** और **वनस्पति** । इनमेंसे **वनस्पति** के दोभेद हैं, **साधारण** और **प्रत्येक**. **साधारण** उसे कहते हैं जिसके एक शरीरमें अनन्त जीव पाये जाते हैं और **प्रत्येक** उसे कहते हैं, जिसके एक शरीरमें एक ही जीव पाया जावे । फिर इस **प्रत्येकवनस्पति** के भी दो भेद होते हैं, एक **सप्रतिष्ठित** दूसरा **अप्रतिष्ठित । प्रत्येक वनस्पति** जब निगोदसहित होती है, तब **सप्रतिष्ठित** और जब निगोद रहित रहती है, तब **अप्रतिष्ठित** कहलाती है । दूब, बेल, छोटे बड़े वृक्ष और कन्दादि ऐसी वनस्पतियाँ जिनमें लम्बी रेखायें, गांठें (ग्रन्थि), संधियें दृष्टिगोचर न हों, अथवा जो काटनेके पश्चात् पुनः उत्पन्न हो सकें, जिनके तन्तु न होवें, अथवा जिनमें तोड़ने पर तन्तु न लगे रहें, **सप्रतिष्ठित** कहलाती हैं । और जिनमें रेखा, गाँठें, संधियाँ प्रत्यक्ष दिखाई देवें, जो काटने के पश्चात् फिर न उग सकें, जिनके तन्तु होवें, तोड़ने पर तन्तु लगे रहें, उन्हें **अप्रतिष्ठित** कहते हैं । उपर्युक्त **सप्रतिष्ठित प्रत्येक** वनस्पति को **साधारध** भी कहते हैं । इस साधारण-वनस्पति में अनन्त जीव पाये जाते हैं, इस कारण इसे **अनन्तकाय** कहते हैं ।

अण्डर पाये जाते हैं जैसे—शरीर में हाथ पाँव आदि। एक अण्डर में असंख्यात लोक परिमित पुलवी होते हैं: जैसे— हाथ पावों में अँगुली आदिक। एक पुलवीमें असंख्यात लोक परिमित आवास होते हैं, जैसे अँगुलियों में तीन भाग। एक आवास में असंख्यात लोक परिमित निगोद शरीर होते हैं, जैसे—अंगुलियों के भागों में रेखायें और फिर एक निगोद के शरीर में सिद्धसमूहसे अनन्तगुणे जीव पाये जाते हैं, जैसे—रेखाओं में अनेक प्रदेश।"

इस प्रकार एक साधारण हरित वनस्पतिके टुकड़ेमें संख्यातीत जीवोंका अस्तित्व रहता है जिनका कि जिह्वाके थोड़ेसे स्वादके लिये विषयी जीव घात कर डालते हैं। विचारवान् पुरुषोंको ऐसा करना सर्वथा अनुचित है।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१६३॥

अन्वयार्थौ—[**च**] और [**प्रभूतजीवानाम्**] बहुत जीवोंका [**योनिस्थानं**] उत्पत्तिस्थानरूप [**नवनीतं**] नवनीत अर्थात् मक्खन [**त्याज्यं**] त्याग करने योग्य है, [**वा**] अथवा [**पिण्डशुद्धौ**] आहारकी शुद्धतामें [**यत्किञ्चित्**] जो थोड़ा भी [**विरुद्धम्**] विरुद्ध [**अभिधीयते**] कहा जाता है, (तत्) वह [**अपि**] भी त्याग करने योग्य है।

भावार्थ—देहीमेंसे निकाले हुए मक्खनका यदि तत्काल ही अग्निपर तपाकर घृत नहीं बना लिया जावे, तो वह मक्खन दो ही मुहूर्तके पश्चात् अनन्त जीवरूप हो जाता है, अर्थात् उसमें अपरिमित जीव पैदा हो जाते हैं। इसलिये व्रती गृहस्थको इसका त्याग अवश्य ही करना चाहिये। आचार-शास्त्रोंमें जिन पदार्थोंको अभक्ष्य बतलाया है, उनका भी त्याग करना चाहिये। जैसे-चर्म-स्पर्शित घृत, तैल, जल हिंग्वादि तथा दुग्ध,[1] दधि[2] मिष्टान्न,[3] अनछाना[4] पानी, बिना जाना फल, घुना बीधा अन्न, बाजारका आटा, अचार (अथाना—संधाना) मुरब्बा आदि।

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥१६४॥

अन्वयार्थौ—[**धीमता**] बुद्धिवान् पुरुष करके [**निजशक्तिम्**] अपनी शक्तिको [**अपेक्ष्य**] देखकर [**अविरुद्धाः**] अविरुद्ध [**भोगाः**] भोग [**अपि**] भी [**त्याज्याः**] त्याग देने योग्य हैं, और जो [**अत्याज्येषु**] उचित भोगोपभोगोंका त्याग न हो सके तो उनमें [**अपि**] भी [**एकदिवानिशोपभोग्यतया**] एक दिन रातकी उपभोग्यतासे [**सीमा**] मर्यादा [**कार्या**] करना चाहिये।

१-कच्चा दूध अन्तर्मुहूर्तके उपरान्त अपेय (नहीं पीने योग्य) है। २-चौबीस घटेके पश्चात् दही अभक्ष्य है। ३-अधिक समय बीत जानेसे मिष्टान्नमें सूक्ष्म लट (जीव विशेष) पड़ जाते हैं। ४-जिसमें से सूर्यका प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई दे, ऐसे सघन (गाढ़े) कपड़ेके बत्तीस अंगुल लम्बे और चौबीस अंगुल चौड़े छन्ने (नातने) को दुहरा करके जल छानना चाहिये। छने हुए पानीकी मर्यादा यदि बढ़ाना हो, तोउसे उष्ण (गर्म) करके अथवा लवणादि तीक्ष्ण पदार्थ डालके बढ़ा सकते हैं। नहीं तो प्रत्येक मुहूर्तके पश्चात् छान के पीना चाहिये।

भावार्थ—मोक्षाभिलाषी पुरुषको अपने पदस्थके विरुद्ध समस्त बाह्य पदार्थ त्यागने योग्य हैं, अतएव जिस प्रकार वह अयोग्य पदार्थोंका त्याग करता है, उसी प्रकार अपनी शक्त्यनुसार योग्य पदार्थोंका भी त्याग करे। यदि कदाचित् योग्य पदार्थोंके छोड़नेमें समर्थ न हो, तो उन पदार्थोंको नियमित मर्यादा करके दिन, दो दिनके लिये ही छोड़ा करे।

त्याग दो प्रकारके[1] होते हैं, एक **यमरूप** दूसरे **नियमरूप**। किसी पदार्थके यावज्जीव त्यागको **यम** और दिन, रात्रि, मास, ऋतु, अयन, वर्षादिककी मर्यादारूप त्यागको **नियम** कहते हैं। **अयोग्य** **भोगोपभोगोंका** त्याग यावज्जीव अर्थात् **यमरूप** किया जाता है, और यदि शक्ति हो, तो योग्य **भोगोप-**भोगोंका त्याग भी **यमरूप** किया जाता है; परन्तु जब योग्य भोगोपभोगोंमें **यमरूप** त्यागकी शक्ति नहीं होती है, तब दिवस पक्षादिकके प्रमाणसे **नियमरूप** त्याग ग्रहण किया जाता है, जैसे—

"परस्त्री यावज्जीव त्याज्य है और मोक्षाभिलाषीका स्वस्त्री भी यावज्जीव त्याज्य है, किन्तु जो पुरुष मोहके उदयसे स्वस्त्रीके छोडनेमें असमर्थ है, उन्हें चाहिये कि, ऋतुःदिवसों[2] में स्वस्त्रीका नियम रूप त्याग करे।" इसी प्रकार समस्त भोग्योपभोग्य पदार्थोंमें यम नियमरूप त्याग किया जाता है।

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या ॥१६५॥

अन्वयार्थौ—[**पूर्वकृतायां**] प्रथम की हुई [**सीमनि**] सीमामें [**पुनः**] फिर [**अपि**] भी [**तात्कालिकीं**] उस समयकी अर्थात् विद्यमान समयकी [**निजां**] अपनी [**शक्तिम्**] शक्तिको [**समीक्ष्य**] विचार करके [**प्रतिदिवसं**] प्रतिदिन [**अन्तरसीमा**] अन्तरसीमा अर्थात् सीमामें भी थोड़ी सीमा [**कर्तव्या**] करने योग्य [**भवति**] होती है।

भावार्थ—पहिले किये हुए भोगोपभोग परिमाणमें अपनी शक्तिके अनुसार मर्यादामें भी मर्यादा करना चाहिये और उसका यथाशक्ति अर्थात् जितना बन सके, उतना पालन करना चाहिये। गृहस्थ जो प्रतिदिन नियम ग्रहण करते हैं, उन्हें अन्तरसमावर्ती[3] नियम कहते हैं।

१—**नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात्।**
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ ८७ ॥
भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसङ्गीतगीतेषु ॥ ८८ ॥
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा ॥
इति कालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥ ८९ ॥ —रत्नकरण्डश्रा०

२—**निशा षोडश नारीणामृतुः स्यात्तासु चादिमा।**
तिस्रः सर्वैरपि त्याज्या प्रोक्तास्तुर्यापि केनचित् ॥

अर्थात्—स्त्रियोंका ऋतुकाल सोलह रात्रि होता है, उसमेंसे आदिकी तीन रात्रि तो सबने ही त्याज्य कही है किसी किसी आचार्यने चौथी रात्रि भी त्याज्य कही है।

३—निम्नलिखित सत्रह अन्तरसीमावर्ती नियम गृहस्थको निरन्तर ग्रहण करना चाहिये—

भोजने[1] षट्रसे[2] पाने[3] कुङ्कुमादिविलेपने[4]। पुष्प[5]-ताम्बूल[6]-गीतेषु[7] नृत्यादौ[8] ब्रह्मचर्यके[9] ॥१॥
भूस्नान[10]-भूषण[11]-वस्त्रादौ[12] वाहने[13] शयना[14]सने[15]। सचित्त[16]-वस्तु[17]-संख्यादौ प्रमाणं भज प्रत्यहं ॥२॥

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ।।१६६।।

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो गृहस्थ [**इति**] इस प्रकार [**परिमितभोगैः**] मर्यादारूप भोगोंसे [**सन्तुष्टः**] सन्तुष्ट होकर [**बहुतरान्**] अधिकतर [**भोगान्**] भोगोंको [**त्यजति**] छोड़ देता है, [**तस्य**] उसका [**बहुतरहिंसाविरहात्**] बहुत हिंसाके त्यागसे [**विशिष्टा अहिंसा**] उत्तम अहिंसाव्रत [**स्यात्**] होता है।

भावार्थ—जो श्रावक पूर्वोक्त प्रकारसे भोगोपभोगोंका त्याग निरन्तर किया करता है, उसके लोभ कषायके त्यागसे संतोषका आविर्भाव होता है, और भोगोंके कारण होनेवाली हिंसाका उन भोगोपभोगोंके साथ सहज ही त्याग होता है। इस प्रकार अहिंसाव्रतका उत्कर्ष होता है।

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय ।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ।।१६७।।

अन्वयार्थौ—[**दातृगुणवता**] दाताके गुणयुक्त गृहस्थकरके [**जातरूपाय अतिथये**] दिगम्बर[1] अतिथिके[2] लिये [**स्वपरानुग्रहहेतोः**] आप और दूसरेके अनुग्रहके हेतु [**द्रव्यविशेषस्य**] विशेषद्रव्य का अर्थात् देने योग्य वस्तुका [**भागः**] भाग [**विधिना**] विधिपूर्वक [**अवश्यम्**] अवश्य ही [**कर्तव्यः**] कर्तव्य है।

भावार्थ—"**विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः**" तत्त्वार्थाधिगमके इस सूत्रानुसार विधि, दाता, द्रव्य, पात्रकी विशेषतासे दानमें विशेषता होती है, अतएव उत्तम दाताको चाहिये कि उत्तम पात्रको उत्तम आहार उत्तम विधिपूर्वक देवे। इस प्रकारका दान अपने और दूसरेके उपकारके लिये होता है, क्योंकि दाताको उत्तम पात्रके दानसे विशिष्ट पुण्यका बंध होता है, तथा पात्रको अर्थात् लेनेवालेको ज्ञान संयमादिकी वृद्धिरूप लाभ होता है, और ये ही दोनोंके उपकार हैं। आये हुए अभ्यागतके निमित्त प्रतिदिन भोजनादिकका दान करके पश्चात् आप भोजन करे, यह श्रावकका नित्यकर्म है। इसे **अतिथिसंविभाग** कहते हैं।

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ।।१६८।।

अन्वयार्थौ—[**च**] और [**संग्रहम्**] प्रतिग्रहण,[3] [**उच्चस्थानं**] ऊँचा स्थान देना, [**पादोदकम्**] चरण धोना, [**अर्चनं**] पूजन करना, [**प्रणामं**] नमस्कार करना, [**वाक्कायमनःशुद्धिः**] मनशुद्धि,[4] वचनशुद्धि,[5] कायशुद्धि,[6] रखनी [**च**] और [**एषणशुद्धिः**] भोजनशुद्धि, आचार्यगण इस प्रकार [**विधिम्**] नवधाभक्तिरूप विधिको [**आहुः**] कहते हैं।

१–उत्पन्न होनेके समय जिस रूपमें था, वैसा। अर्थात् दिगम्बर। अथवा पात्रके उत्तम गुणोंसे युक्त अतिथि।

२–जिनका आगमन तिथिके नियम रहित होता है, अर्थात् जो नियमित तिथिको नहीं आते ऐसे अभ्यागत।

३–सत्कारपूर्वक अपने गृहमें अतिथिका प्रवेश करना। ४–विनयसेवायुक्त परिणाम रखना। ५–विनयपूर्वक बोलना। ६–शरीरसे यथायोग्य सेवा करना।

भावार्थ—उत्तम पात्रोंको उक्त नव प्रकारकी भक्तिसे दान देना चाहिये, तथा **अजघन्य** पात्रों को अपने और उनके गुणोंका विचार कर यथोचित विधिसे दान देना चाहिये ।

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम् ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः ।।१६९।।

अन्वयार्थौ—[**ऐहिकफलानपेक्षा**] इस लोकसम्बन्धी फलकी अपेक्षा न रखना, [**क्षान्तिः**] क्षमा या सहनशीलता [**निष्कपटता**] निष्कपटता, [**अनसूयत्वम्**] ईर्षारहितता, [**अविषादित्वमुदित्वे** अखिन्नभाव, हर्षभाव और [**निरहङ्कारित्वम्**] निरभिमानता, [**इति**] इस प्रकार ये सात [**हि**] निश्चय करके [**दातृगुणाः**] दाताके गुण हैं ।

भावार्थ—दाता इन सात गुणोंकर सहित होना चाहिए, दातामें इन गुणोंकी न्यूनता होनेसे दानके फलमें भी तदनुकूल न्यूनाधिकता होती है ।

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते ।
द्रव्य तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ।।१७०।।

अन्वयार्थौ—[**यत्**] जो [**द्रव्यं**] [**रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं**] राग, द्वेष; असंयम, मद, दुःख, भय आदिक [**न कुरुते**] नहीं करता है, और [**सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम्**] उत्तम तप तथा स्वाध्यायकी वृद्धि करनेवाला [**तत् एव**] वह ही [**देयं**] देने योग्य है ।

भावार्थ—रागादि भावोंके उत्पन्न करनेवाले मन्दिर, हाथी, घोड़ा, सोना, चांदी, शस्त्रादि पदार्थ तथा कामोद्दीपनादि विकार उत्पन्न करनेवाले स्त्री वादित्रादि पदार्थ दान देने योग्य नहीं हैं, क्योंकि, इन वस्तुओंके निमित्तसे दान लेनेवाला जीव स्वतः पापबंध करता है, और जिसका कि सहायक कारण होनेसे देनेवाला भी तज्जनित पापका भागी होता है। इसलिये दानमें ऐसे पदार्थ देना चाहिए, जो विकार भावोंको उत्पन्न न करे, और तपश्चरणादिको बढ़ानेवाले हों। जैसे क्षुधा निवारणके लिये आहार-दान, रोग-शमनके लिये औषध-दान, अज्ञान दूर करनेके लिये शास्त्र-दान, और भय मिटानेके लिये अभय-दान ।

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् ।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ।।१७१।।

अन्वयार्थौ—[**मोक्षकारणगुणानाम्**] मोक्षके कारणरूप गुणोंका अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणोंका [**संयोगः**] संयोग जिसमें हो, ऐसा [**पात्रं**] पात्र [**अविरतसम्यग्दृष्टिः**] व्रतरहित सम्यग्दृष्टि [**च**] तथा [**विरताविरतः**] देशव्रती [**च**] और [**सकलविरतः**] महाव्रती [**त्रिभेदम्**] तीन भेदरूप [**उक्तं**] कहा है ।

भावार्थ- जो दान लेनेवाले पुरुष रत्नत्रययुक्त होवें, वे पात्र कहलाते हैं। **उनके तीन भेद हैं, उत्तम पात्र, मध्यम पात्र और जघन्य पात्र।** इनमेंसे सकलचारित्रके धारण करनेवाले सम्यक्त्वयुक्त मुनि उत्तम पात्र, देशचारित्रयुक्त त्रसजीवोंकी हिंसाके त्यागी श्रावक मध्यम पात्र, और व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं ।

विशेष—ऊपर कह चुके हैं कि पात्रको जिस भावसे दान दिया जाता है, दाता वैसे ही फलका भागी होता है, और यह पात्रव्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणोंकी अपेक्षासे होता है; सो इनके धारण करनेवालोंको तो यथायोग्य आदर सत्कारसे देना चाहिये और इनके अतिरिक्त अन्य दुःखी पीड़ित जनोंको दयाभावसे दान देना चाहिये[1]।

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने ।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ।।१७२।।

अन्वयार्थौ—[**यतः**] क्योंकि [**अत्र दाने**] यहाँ दानमें [**हिंसायाः**] हिंसाका [**पर्य्याय**]ः पर्याय [**लोभः**] लोभ [**निरस्यते**] नाश किया जाता है, [**तस्मात्**] अतएव [**अतिथिवितरणं**] अतिथिदान [**हिंसाव्युपरमणमेव**] हिंसाका त्याग ही [**इष्टम्**] कहा है।

भावार्थ— लोभका त्याग किये विना दान नहीं हो सकता, और पहले कह आये हैं कि लोभ हिंसाका रूप है, अतएव दानमें लोभका त्याग होनेसे हिंसाका भी त्याग सिद्ध होता है।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते ।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ।।१७३।।

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो गृहस्थ [**गृहमागताय**] घरपर आये हुए [**गुणिने**] संयमादि गुणयुक्तको और [**मधुकरवृत्त्या**] भ्रमरके सामन वृत्तिसे [**परान्**] दूसरोंको [**अपीडयते**] पीड़ा नहीं देनेवाले [**अतिथये**] अतिथि साधुके लिये [**न वितरति**] भोजनादिक नहीं देता है, [**सः**] वह [**लोभवान्**] लोभी [**कथं**] कैसे [**न हि**] नहीं [**भवति**] है।

भावार्थ—जैसे भ्रमर (भौंरा) फूलोंको किसी प्रकारकी हानि न पहुंचाकर केवल उनकी सुगन्धि लेता है, उसी प्रकार रत्नत्रयमंडित परम वैरागी मुनि दाताको किसी प्रकार कष्ट न पहुंचाकर किंचिन्मात्र आहार करते हैं, सो ऐसे मुनिको भी जो श्रावक आहार नहीं देता है, वह अवश्य लोभी है।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः ।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ।।१७४।।

अन्वयार्थौ—[**आत्मार्थं**] अपने के लिये (**कृतम्**) बनाये हुए (**भक्तम्**) भोजनको (**मुनये**) मुनिके लिये (**ददाति**) देवे, (**इति**) इस प्रकार (**भावितः**)भावपूर्वक (**अरतिविषादविमुक्तः**) अप्रेम

---

१ उक्तं च रयणसारे—सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाण सोहं वा ।
लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहा सवस्स जाणेह ।।
संस्कृतच्छाया—सत्पुरुषाणां दानं कल्पतरूणां फलानां शोभा वा ।
लोभिनां दानं यथा विमानशोभा शवस्य जानीहि ।।

अर्थात्—सत्पुरुषोंका दान देना तो कल्पवृक्षके समान है, जिससे शोभा होती है, और मनोवांछित फल भी प्राप्त होते हैं, विपरीत इसके लोभीका दान देना मुर्दाके विमान समान है, जिससे शोभा तो होती है, परन्तु गृहस्वामीको छाती कूटनी पड़ती है। अर्थात् लोभी पुरुष जब दान देता है, तब उसकी प्रशंसा तो होती है, परन्तु उस दानका फल कुछ भी नहीं होता।

श्रौर विषादसे रहित तथा [**शिथिलितलोभः**] लोभको शिथिल करनेवाला [**त्यागः**] दान [**अहिंसा एवं**] अहिंसा स्वरूप ही [**भवति**] होता है ।

भावार्थ – जो वस्तु अपने प्रयोजनसे बनाई जाती है, वह यदि दूसरे को देना पड़े तो उससे अप्रीति, खिन्नता और लोभ उत्पन्न होता है, अतएव यहाँ पर अपने निमित्तका निर्देश कर तैयार किया हुआ भोजन मुनीश्वरोंको देना चाहिये; ऐसा कहा है, क्योंकि ऐसा करनेसे पूर्वोक्त भावों की अनुत्पत्तिमें अर्थात् अरति, खेद न होनेसे दान अहिंसाव्रत होता है ।

इस अतिथि-संविभागमें परजीवोंका दुःख दूर करनेसे द्रव्य अहिंसा तो प्रगट ही है, रही भावित अहिंसा, तो वह लोभ कषायके त्यागकी अपेक्षासे जानना चाहिये ।

इति द्वादशव्रतकथनम् ।

४–सल्लेखनाधर्मव्याख्यान ।

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम् ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥१७५॥

अन्वयार्थौ –[**इयम्**] यह [**एका**] एक [**पश्चिमसल्लेखना एव**] मरणके अंतमें होनेवाली सल्लेखना ही [**मे**] मेरे [**धर्मस्वं**] धर्मरूपी धनको [**मया**] मेरे] [**समं**] साथ [**नेतुम्**] ले चलनेको [**समर्था**] समर्थ है । [**इति**] इस प्रकार [**भक्त्या**] भक्ति करके [**सततम्**] निरन्तर [**भावनीया**] भाना चाहिये ।

भावार्थ – मरण दो प्रकार का होता है, पहला **नित्यमरण** और दूसरा **तद्भवमरण** । आयु श्वासोछ्वासादिक दश प्राणोंका जो समय समयपर वियोग होता है, उसे **नित्यमरण** और ग्रहीतपर्याय अथवा जन्मके नाश होनेको **तद्भवमरण** अथवा मरणान्त कहते हैं । इस मरणान्त समयमें सल्लेखनाका[1] चिंतवन इस प्रकार करना चाहिये कि इस मनुष्य देहरूपी देशमें अणुव्रतरूपी व्यापार करके जो धर्मरूप धन कमाया है, उसे परलोकरूपी देशान्तरमें ले जाने के लिये सल्लेखना ही एक मात्र आधार है । जैसे किसी देशमें कमाये हुए धनकी यदि कोई मनुष्य वहाँसे कूच करते समय याद न करे और किसी दूसरे को सौंप जावे, तो उसका वह धन प्रायः व्यर्थ ही जाता है; इसी प्रकार परलोक-यात्राके समयमें अर्थात् मरणान्तमें सल्लेखना न की जावे और परिणाम भ्रष्ट हो जावें, तो दुर्गति हो जाती है, इसलिये मरण-समयमें सल्लेखना अंगीकार करनी चाहिये ।

१–**सत्**=सम्यक् प्रकारसे **लेखना**=कषायके कृश (क्षीण) करनेको **सल्लेखना**=कहते हैं । यह **अभ्यन्तर** और **बाह्य** दो भेदरूप है । कायके कृश करने को **बाह्य** और आन्तरिक क्रोधादि कषायोंके कृश करनेको अभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं ।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम् ।।१७६।।

अन्वयार्थौ—[**अहं**] मैं [**मरणान्ते**] मरणकालमें [**अवश्यम्**] अवश्य ही [**विधिना**] शास्त्रोक्त विधिसे [**सल्लेखनां**] समाधिमरण [**करिष्यामि**] करूँगा, [**इति**] इस प्रकार [**भावना परिणतः**] भावनारूप परिणति करके [**अनागतमपि**] मरणकाल आनेके पहिले ही [**इदं**] यह [**शीलम्**] सल्लेखनाव्रत [**पालयेत्**] पालना चाहिये ।

भावार्थ—सल्लेखना अर्थात् संन्यासका धारण अन्तकालमें होता है, परन्तु इस जीव की आयु समय प्रतिसमय घटती ही जाती है, जिसके आखिर को मरना निश्चित ही है, इस कारण मृत्युके पहिले ही ऐसी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि "मैं मरण समयमें अवश्य ही सन्यास धारण करूँगा" । इस प्रतिज्ञा की अपेक्षा से उक्त सल्लेखनाव्रत पहिलेसे ही पालित समझा जावेगा ।

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे ।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ।।१७७।।

अन्वयार्थौ—[**अवश्य**] अवश्य ही [**भाविनि**] होनहार [**मरणे 'सति'**] मरणके होते हुए [**कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे**] कषाय सल्लेखनाके कृश करने मात्र व्यापारमें [**व्याप्रियमाणस्य**] प्रवर्त्तमान पुरुषके [**रागादिमन्तरेण**] रागादिक भावोंके विना [**आत्मघातः**] आत्मघात [**नास्ति**] नहीं है ।

भावार्थ—शरीर स्वभावके विकाररूप चिह्नों से तथा शुभाशुभसूचक निमित्तज्ञानकी शक्तिसे अपना मरणकाल जब निश्चित कर लिया है, तब ही संन्यासमरण अंगीकार किया जाता है और इसलिये इस समाधि अवस्थामें राग द्वेष मोहादिकोंका अभाव होनेसे संन्यास लेने पर आत्मघातका दोष नहीं लग सकता । जिस प्रकार कोई बड़ा व्यापारी अपने घरमें आग लग जानेसे पहिले तो उसे बुझाने का प्रयत्न करता है, परन्तु जब बुझाना अशक्य समझ लेता है तब वह ऐसी युक्तिको काममें लाता है कि जिससे अपने हुँडी-पत्रीके व्यवहार-वचनमें किसी प्रकार बट्टा नहीं लगने पावे । ठीक इसी प्रकार शरीरमें व्याधि उत्पन्न होने पर मनुष्य उसे निर्दोष रीतिसे शमन करने के लिये औषधादिक सेवन करता है, परन्तु जब व्याधि से मुक्त होना अशक्य समझ लेता है, तब संन्यास धारण करता है; जिससे अपना धर्म न बिगड़ने पावे । भाव यह है कि अन्तकाल निश्चित करके धर्मके रक्षार्थ संन्यास धारण करना आत्मघात नहीं है ।

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ।।१७८।।

अन्वयार्थौ—[**हि**] निश्चय करके [**कषायाविष्टः**] क्रोधादि कषायोंसे घिरा हुआ [**यः**] जो पुरुष [**कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः**] श्वासनिरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादिकोंसे अपने [**प्राणान्**]

प्राणोंको [व्यपरोपयति] पृथक् कर देता है, [तस्य] उसके [आत्मवधः] आत्मघात [सत्यम्] सचमुच [स्यात्] होता है।

भावार्थ- जो जीव क्रोध,, मान, माया, लोभके वश अथवा इष्ट-वियोगके खेदके वश, तथा आगामी निदानके वश, अपने प्राणों का अग्नि शस्त्रादिकोंसे घात कर डालते हैं, उन्हें आत्मघातका दोष लगता है। जैसे—पतिके पीछे स्त्रीका सती होना, हिमालयमें गलना, काशी करवत लेनी आदि। किन्तु संन्यासपूर्वक मरण करने वालोंको आत्मघात का दोष नहीं लगता।

विशेष— सल्लेखनाधर्म गृहस्थ और मुनि दोनोंका है, तथा सल्लेखना व संन्यासमरणका अर्थ भी एक है, इसलिये बारह व्रतोंके पश्चात् सल्लेखनाका निरूपण किया है। इस सल्लेखना व्रतकी उत्कृष्ट मर्यादा बारह वर्ष पर्यन्त है; ऐसा श्रीवीरनन्दिकृत यत्याचारमें कहा है।

जब शरीर किसी असाध्य रोगसे अथवा वृद्धावस्थासे असमर्थ हो जावे, देव मनुष्यादिकृत कोई दुर्निवार उपसर्ग उपस्थित हुआ होवे, किसी महा दुर्भिक्षसे धान्यादि भोज्यपदार्थ दुष्प्राप्य हो गये होवें, अथवा धर्मके विनाश करने वाले कोई विशेष कारण आ मिले होवें, तब अपने शरीरको पके हुए पानके समान तथा तैलरहित दीपकके समान अपने आप ही विनाशके सन्मुख जान संन्यास धारण करे। यदि मरणमें किसी प्रकारका सन्देह हो, तो मर्यादापूर्वक ऐसी प्रतिज्ञा करे, कि जो इस उपसर्गमें मेरी मृत्यु हो जावेगी, तो मेरे आहारादिका सर्वथा त्याग है और जो कदाचित् जीवन अवशेष रहेगा, तो आहारादिक को ग्रहण करूंगा, यह संन्यास ग्रहण करनेका क्रम है।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'इस वाक्यके अनुसार शरीरकी रक्षा करना परम कर्त्तव्य है,क्योंकि धर्मका साधन शरीरसे ही होता है, इसलिये रोगादिक होनेपर यथाशक्ति औषध करना चाहिये, परन्तु जब असाध्य रोग हो जावे और किसी प्रकारके उपचारसे लाभ न होवे, तब यह शरीर, दुष्टके समान सर्वथा त्याग कर देने योग्य कहा है, और इच्छित फलका देनेवाला धर्म विशेषतासे पालने योग्य कहा है। शरीर मृत्युके पश्चात् फिर भी प्राप्त होता है, परन्तु धर्म पालनेकी योग्यता पाना अतिशय दुर्लभ है। इस कारण विधिपूर्वक देहके त्यागमें दुःखित न होकर संयमपूर्वक मनो वचन कायके व्यापार आत्मा में एकत्रित करना चाहिये, और 'जन्म, जरा तथा मृत्यु शरीरसम्बन्धी हैं, मेरे नहीं हैं" ऐसा चिंतवन कर निर्ममत्व होकर विधिपूर्वक आहार घटाकर शरीर कृश करना चाहिये, तथा शास्त्रामृतके पानसे कषायों को कृश करना चाहिये, पश्चात् चार प्रकारके संघको[1] साक्षी करके समाधिमरणमें उद्यमवान् होना चाहिये।

अन्तकी आराधनासे चिरकालकी की हुई व्रतनियमरूप धर्माराधना सफल हो जाती है, क्योंकि इससे क्षणभरमें बहुत कालसे संचित पापका नाश हो जाता है, और यदि अन्त मरण बिगड़ जावे, अर्थात् असंयमपूर्वक मृत्यु हो जावे, तो पूर्वकृत धर्माराधना निष्फल हो जाती है। यहाँपर यदि कोई पुरुष यह प्रश्न करे कि, "जो अन्त समय समाधिमरण कर लेनेसे क्षणमात्रमें पूर्व पापोंका नाश हो जाता है, तो फिर युवादि अवस्थाओंमें धर्म करनेकी क्या आवश्यकता है ? अन्त समय संन्यास धारण कर लेनेसे ही सर्व मनोरथ सिद्ध हो जावेंगे," तो इसका समाधान इस प्रकार होता है कि "जो पुरुष अपनी पूर्व

१–मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका

अवस्थामें धर्मसे पराङ्मुख रहते हैं, अर्थात् जिन्होंने व्रत नियमादि धर्माराधना नहीं की है, वे पुरुष अन्त कालमें धर्मके सन्मुख अर्थात् संन्यासयुक्त कभी नहीं हो सकते। क्योंकि **"चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता[१] गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः"** चिरकालके अभ्याससे प्रेरित की हुई बुद्धि गुण और दोषोंमें जाती है। जो वस्त्र पहलेसे उज्ज्वल होता है, उसपर मनोवांछित रंग चढ़ सकता है, परन्तु जो वस्त्र पहिलेसे मलीन होता है, उसपर रंग कभी नहीं चढ़ाया जा सकता। अतएव संन्यासमरण वही धारण कर सकता है, जो पहिली अवस्थासे ही धर्मकी आराधनामें दत्तचित्त रहा हो। हाँ, कहीं कहीं ऐसा भी देखा गया है कि जिस पुरुषने जन्मभर धर्मसेवामें चित्त नहीं लगाया था, वह भी संन्यासपूर्वक मरण करके स्वर्गादि सुखोंको प्राप्त हो गया। **यह काकतालीयन्यायवत्**[२], अति कठिन है, इसलिये जिनवचनोंके श्रद्धानी पुरुषोंको उक्त शंकाको अपने चित्तमें कभी स्थान न देना चाहिये।

संन्यासार्थी पुरुषको चाहिये, कि जहाँतक बने; जिनभगवान्की जन्मादि तीर्थ-भूमियोंका आश्रय ग्रहण करे और यदि तीर्थभूमि की प्राप्ति न हो सके, तो मन्दिर अथवा संयमी जनोंके आश्रयमें रहे। संन्यासार्थी तीर्थके जाते समय सबसे क्षमाकी याचना करे और आप भी मन वचन कायपूर्वक सब प्राणियोंको क्षमा करे। अन्त समय क्षमा करनेवाला संसारका पारगामी होता है, और बैर विरोध रखनेवाला अर्थात् क्षमा न रखनेवाला अनन्त संसारी होता है। संन्यासार्थी पुरुषको पुत्र कलत्रादिक कुटुम्बियोंसे तथा सांसारिक सम्पदाओंसे सर्वथा मोह छोड़ देना चाहिये, परन्तु उत्तम साधक पुरुषोंकी सहायता अवश्य लेनी चाहिये, क्योंकि साधर्मी तथा आचार्योंकी सहायतासे अशुभ कर्म यथेष्ट विघ्न करनेको समर्थ नहीं हो सकते। व्रतके अतीचारोंको साधर्मियोंके अथवा आचार्यके सन्मुख प्रकट कर निःशल्य होकर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त शास्त्रमें कही हुई विधियोंसे शोधन करना चाहिये।

निर्मल भावरूप अमृतसे सिंचित समाधिमरणके लिये पूर्व तथा उत्तर दिशाकी ओर मस्तक आरोपित करे, यदि श्रावक महाव्रत की याचना करे, तो निर्णायक आचार्यको उचित है कि उसे महाव्रत देवे। महाव्रत ग्रहणमें नग्न होना चाहिये, अर्जिकाको भी अन्तकाल उपस्थित होनेपर एकान्त स्थानमें वस्त्रोंका त्याग करना उचित कहा है। साँथरेके समय नाना प्रकारके योग्य आहार दिखाकर भोजन करावे, और जो उसे अज्ञानतावश भोजनमें आसक्त समझे, तो परमार्थज्ञाता आचार्यको चाहिये कि उसे अपने प्रभावशाली व्याख्यानके द्वारा इस प्रकार समझावे कि—

हे जितेन्द्रिय! तू भोजन शयनादिरूप कल्पित पुद्गलोंको अब भी उपकारी समझता है और यह जानता है कि इनमेंसे कोई पुद्गल ऐसे भी हैं। जो मैने भोगे नहीं हैं। यह बड़े आश्चर्यकी बात है। भला सोच तो सही, कि ये मूर्तिमन्त पुद्गल तुझ अरूपीमें किसी प्रकार मिल भी सकते हैं। तूने इन्हें केवल इन्द्रियोंसे ग्रहणपूर्वक अनुभवनकर यह जान रक्खा है कि मैं ही इनका भोग करता हूं। सो हे दूरदर्शी! अब इस भ्रान्त बुद्धिको सर्वथा छोड़ दे और आत्मतत्त्वमें लवलीन हो। यह वह समय है, जिसमें ज्ञानी जीव शुद्धतामें सावधान रहते हैं, और चिन्तवन करते हैं कि मैं अन्य हूं और वे पुद्गल मुझसे सर्वथा भिन्न अन्य ही पदार्थ हैं, इसलिये हे महाशय! पर द्रव्योंसे मोह छोड़ करके अपने आत्मामें स्थिर

१–चन्द्रप्रभचरिते प्रथमसर्गे। २ ताड़ वृक्षसे अचानक फलका टूटना और उड़तेहुए काकको आकाशमें ही प्राप्त हो जाना जिस प्रकार कठिन है, उसी प्रकार संस्कारहीन पुरुषका समाधिमरण पाना कठिन है।

रहनेका प्रयत्न कर। यदि किसी पुद्गलमें आसक्त रहकर मरण पावेगा, तो स्मरण रखना, कि तुझे क्षुद्र जन्तु होकर उस पुद्गलका भक्षण अनन्त बार करना पड़ेगा। इस भोजनसे जो तू शरीरका उपकार करना चाहता है, सो किसी प्रकार भी उचित नहीं है, क्योंकि शरीर ऐसा कृतघ्नी है कि वह किसीके किये हुए उपकारको नहीं मानता, अतएव भोजनकी इच्छा छोड़ना ही बुद्धिमत्ता है।

इस प्रकार हितोपदेशरूपी अमृतधाराके पड़नेसे अन्नकी तृष्णा दूर कर कवलाहार छुड़ा देना चाहिये तथा दुग्धादि पेय वस्तु बढ़ाकर पश्चात् क्रमसे उष्णोदक (गरम जल) लेने मात्रका नियम करा देना चाहिये और यदि ग्रीष्मकाल, मरुदेश, तथा पैत्तिक प्रकृतिके कारण तृषाकी बाधा सहन करनेमें असमर्थ होवे, तो केवल ठंडा पानी रख लेना चाहिये और शिक्षा देनी चाहिये कि हे आराधक, आर्य, परमागममें प्रशंसनीय मारणान्तिक सल्लेखना अत्यन्त दुर्लभ वर्णन की गई है, इसलिये तुझे विचारपूर्वक अतीचारादिदूषणोंसे इसकी रक्षा करना चाहिये।

इसके पश्चात अशक्तताकी वृद्धि देखकर मृत्यकी निकटता निश्चय होनेपर आचार्यको उचित है कि समस्त संघकी अनुमतिसे संन्यासमें निश्चलताके निमित्त पानीका भी त्याग करा देवे। इस अनुक्रमसे चारों प्रकारके आहारका त्याग होनेपर समस्त संघसे क्षमा करावे, निर्विघ्न समाधिकी सिद्धिके लिये कायोत्सर्ग करे। तदुपरान्त वचनामृत संतर्पण करे अर्थात् संसारसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाले कारणोंका उक्त आराधकके कानमें मन्द मन्द वाणीसे जप करे, श्रेणिक, वारिषेण, सुभग ग्वालादि पुरुषोंके दृष्टान्त सुनावे, और व्यवहार आराधनामें स्थिर होकर निश्चय आराधनाकी तत्परताके लिये इस प्रकार उपदेश करे कि:—

हे आराधक! श्रुतस्कंधका "एगो मे सासदो आदा" इत्यादि वाक्य, "णमो अरहंताणं" इत्यादि पद और 'अर्हं' इत्यादि अक्षर, इनमेंसे जो तुझे रुचिकर हों, उनका आश्रय करके अपने चित्तको तन्मय कर! हे आर्य, "एगो मे सासदो अप्पा" इस श्रुतज्ञानसे अपने आत्माका निश्चय कर! स्वसंवेदनसे आत्माकी भावना कर! समस्त चिन्ताओंसे पृथक् होकर प्राणविसर्जन कर! और यदि तेरा मन किसी क्षुधा परीषहसे अथवा किसी उपसर्गसे विक्षिप्त हो गया होवे, तो नरकादि वेदनाओंका स्मरण करके ज्ञानामृतरूप सरोवरमें प्रवेश कर। क्योंकि, अज्ञानी जीव शरीरमें आत्मबुद्धि अर्थात् "मैं दुःखी हूं, मैं सुखी हूं, ऐसा सङ्कल्प करके दुःखी हुआ करते हैं, परन्तु भेदविज्ञानी जीव आत्मा और देहको भिन्न भिन्न मानकर देहके सुखसे सुखी व दुःखसे दुखी नहीं होता, और विचार करता है कि मेरे मृत्यु नहीं है, तो फिर भय किसका? मेरे रोग नहीं है, फिर वेदना कैसी? मैं बालक नहीं हूं, वृद्ध नहीं हूं, तरुण नहीं, हूं, फिर मनोवेदना कैसी? और हे महाभाग्य! इस थोड़ेसे शारीरिक दुःखसे कायर हो के प्रतिज्ञाच्युत न होना। दृढ़ चित्त होकर परम निर्ज्जराकी वांछा करना! देख, जबतक तू आत्माका चिन्तवन करता हुआ, संन्यास ग्रहण करके सांथरेपर स्थित है, तबतक क्षण क्षणमें तेरे प्रचुर कर्मोंका विनाश होता है। क्या तुझे धीर वीर पांडवोंका चरित्र विस्मृत हो गया, जिन्हें लोहेके आभरण अग्निसे तप्त करके शत्रुने पहिनाये थे, परन्तु तपस्यासे किंचित् भी च्युत न होकर आत्मध्यानसे मोक्षको प्राप्त हुए थे? क्या तूने महासुकुमार सुकुमाल कुमारका चरित्र नहीं सुना, जिनका शरीर दुष्टा श्यालनीने थोड़ा थोड़ा करके अतिशय कष्ट पहुँचानेके लिये कई दिनमें भक्षण किया था, परन्तु किञ्चित् भी मार्गच्युत न होकर

जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया था ? ऐसे और भी असंख्य उदाहरण शास्त्रोंमें मिलेंगे, जिनमें दुस्सह उपसर्गोंका सहन करके अनेक साधुओंने स्वार्थ सिद्धि की है, क्या तेरा यह कर्तव्य नहीं है कि उनका अनुकरण करके जीवित धनादिकोंमें निर्वांछक हो, अन्तर बाह्य परिग्रहके त्यागपूर्वक साम्यभावसे निरुपाधिमें स्थिर हो, आनन्दामृतका पान करे ? इसके पश्चात् अर्थात् उपरि लिखित रीतिके उपदेशसे कषाय कृश करते हुए रत्नत्रयभावनारूप परिणमनसे पंचनमस्कारमंत्र स्मरणपूर्वक प्राणविसर्जन करना चाहिये। यह संन्यासमरणकी संक्षेप विधि है।

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम् ।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम् ।।१७९।।

अन्वयार्थौ—[**यतः**] क्योंकि [**अत्र**] संन्यास मरणसे [**हिंसायाः**] हिंसाके [**हेतवः**] हेतुभूत [**कषायाः**] कषाय [**तनुताम्**] क्षीणताको [**नीयन्ते**] प्राप्त होते हैं,[**ततः**] उस कारणसे [**सल्लेखनामपि**] संन्यासको भी आचार्य गण [**अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं**] अहिंसाकी सिद्धिके लिये [**प्राहुः**] कहते हैं।

भावार्थ—जहाँ कषायके आवेशसहित मन, वचन, कायके योगोंकी परणति होती है, वहाँ ही हिंसा है और कषायके कृश करनेको सल्लेखना कहते हैं, इस कारण सल्लेखनामें कषाय क्षीण होनेसे अहिंसाकी सिद्ध होती है।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि ।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ।।१८०।।

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो [**इति**] इस प्रकार [**व्रतरक्षार्थं**] पंचाणुव्रतोंकी रक्षाके लिये [**सकलशीलानि**] समस्त[1] शीलोंको [**सततं**] निरन्तर [**पालयति**] पालता है, [**तम्**] उस पुरुषको [**शिवपदश्रीः**] मोक्षपदकी लक्ष्मी [**उत्सुका**] अतिशय उत्कण्ठित [**पतिंवरा इव**] स्वयंवरकी[2] कन्याके समान [**स्वयमेव**] आप ही [**वरयति**] स्वीकार करती है, अर्थात् प्राप्त होती है।

भावार्थ—स्वयंवर मंडपमें जिस प्रकार कन्या आप ही अपने योग्य उत्तम पतिका शोध करके उसके कंठमें वरमाला डाल देती है, उसी प्रकार इस लोकमंडपमें मुक्तिरूपी कन्या अपने योग्य व्रतादि-संयुक्त जीवको स्वयं अपना स्वामी बना लेती है अर्थात् वह जीव मुक्त हो जाता है।

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति ।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः ।।१८१।।

१–तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत और एक अन्तसल्लेखना। २–पूर्वकालमें राजादिक वैभवशाली पुरुष अपनी कन्याओंके विवाहके लिये स्वयम्बरमंडप बनाते थे और उसमें देश विदेशके राजाओंको बुलाते थे, उनमेंसे राजकन्या जिसको अच्छा समझती, उसे वरमाला पहिनाकर अपना पति बना लेती थी।

अन्वयार्थौ—[**सम्यक्त्वे**] सम्यक्त्वमें [**व्रतेषु**] व्रतोंमें और [**शीलेषु**] शीलोंमें [**पञ्च पञ्चेति**] पांच पांचके क्रमसे [**अमी**] ये [**सप्ततिः**] सत्तर (जो आगे कहे जाते हैं) [**यथोदितशुद्धि-प्रतिबन्धिनः**] यथार्थ शुद्धिके रोकनेवाले [**अतिचाराः**] अतीचार[1] [**हेयाः**] त्याग करने योग्य हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके ५, पाँच अणुव्रतोंके पाँच पाँचके हिसाबसे २५, दिग्व्रतादि सात शीलोंके ३५ और सल्लेखनाके[2] ५, इस प्रकार ७० अतीचार होते हैं; जिनका निरूपण आगे श्लोकोंमें क्रमसे किया जावेगा। अतीचारोंका त्याग परमावश्यक है, क्योंकि इनसे व्रतादिक दूषित होते हैं।

शङ्का[3] तथैव कांक्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम्।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२॥

अन्वयार्थौ—[**शङ्का**] सन्देह [**कांक्षा**] वांछा [**विचिकित्सा**] ग्लानि [**तथैव**] वैसे ही [**अन्यदृष्टीनाम्**] मिथ्यादृष्टियोंकी [**संस्तवः**] स्तुति [**च**] और [**मनसा**] मनसे [**तत्प्रशंसा**] उन अन्यदृष्टियोंकी प्रशंसा करना, [**सम्यग्दृष्टेः**] सम्यग्दृष्टिके [**अतीचाराः**] अतीचार हैं।

भावार्थ—१ सर्वज्ञप्रणीत अनेकान्तात्मक मतमें सन्देह करना, २ इसलोक परलोकसम्बन्धी भोगोंकी इच्छा करनी, ३ अनिष्ट तथा दुर्गंधित वस्तुयें देखकर घृणा[4] करनी, ४ पाखंडी विधर्मियोंकी वचनसे स्तुति करनी और ५ उन्हींकी चित्तसे सराहना करनी, ये सम्यक्त्वके पाँच अतीचार हैं। अब यहाँपर यह शंका उत्पन्न होती है, कि सम्यक्त्वके तो शंकादिक आठ मल हैं ही; जिनके अभावसे निर्मल सम्यक्त्व प्रसिद्ध होता है। यहाँपर पाँच क्यों कहे ? सो इसका समाधान केवल इतना ही है कि अन्यत्र जो आठ मल कहे हैं वे सब यदि विचारपूर्वक देखे जावें, तो इन पाँचोंमें ही घटित हो जावेंगे, ऐसा कोई बाकी नहीं रहेगा; जो इन पाँचोंमेंसे किसीमें गर्भित न हो। बुद्धिमानोंको चाहिये कि वे विचारपूर्वक गर्भित कर देखें। जैसे अन्यदृष्टिकी प्रशंसा करनेमें मूढ़दृष्टि नामक सम्यक्त्वका अतीचार होता है; इस प्रकार अन्य भी जानना चाहिये।

१-अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।
तथातिचारं करणालसत्वं भङ्गो ह्यनाचारमिह व्रतानाम् ॥

भावार्थ—इन व्रतोंके अतिक्रम करनेरूप विकारसे मनशुद्धिमें मलिनताके प्रवेश होनेको **अतिक्रम** विषयाभिलाषारूप मलिनताके प्रवेशको **व्यतिक्रम**, इन व्रतोंके चरित्रमें आलस्य अर्थात् शिथिलता होनेको **अतीचार** और सर्वथा व्रत भङ्ग होनेको अर्थात् तोड़ देनेको **अनाचार** कहते हैं। श्रावकाचारके इस वचनसे चरित्रमें किंचिन्मात्र शिथिलता होनेको अतीचार कहते हैं। यह शिथिलता हरएक व्रतमें जितने, भेदरूप होती है, वह क्रमसे बतलाई है। उन प्रत्येक अतीचारका उक्त लक्षण भलीभाँति घटित होता है, वह विचारपूर्वक घटा लेना चाहिये। अतिक्रम और व्यतिक्रम भी व्रतोंके दूषण हैं परन्तु उनके भेद प्रभेद अतिशय सूक्ष्म होते हैं; इसलिये उनका विवरण इस छोटेसे ग्रन्थमें नहीं किया जा सकता।

२-यहाँ शीलोंमें सल्लेखनाका भी ग्रहण किया है। ३-शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७, सूत्र २३)। ४-स्नानादि बाह्यशुद्धि विवर्जित मुनियोंके मलिन शरीरको देखकर ग्लानिसे नाक भौंह सिकोड़नेका भी यहाँ अभिप्राय है।

छेदनताडनबन्धाः[1] भारस्यारोपणं समधिकस्य ।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥१८३॥

अन्वयार्थौ—[**अहिंसाव्रतस्य**] अहिंसा व्रतके [**छेदनताडनबन्धाः**] छेदना, ताड़न करना, बांधना, [**समधिकस्य**] अतिशय अधिक [**भारस्य**] बोझेका [**आरोपणं**] लादना, [**च**] और [**पानान्नयोः** [अन्न पानीका [**रोधः**] रोकना अर्थात् न देना [**इति**] इस प्रकार [**पञ्च**] पांच अतीचार हैं।

भावार्थ—किसी जीवका **छेदन** अर्थात् उसके हस्त पादादि अङ्ग अथवा नाक, कान आदि उपाङ्ग काटना व छेदना, **ताड़न** लकड़ी कोडा आदिसे मारना, **बंधन** स्वेच्छापूर्वक गमन करनेवालोंका रस्सी आदि बाँधकर रोक रखना, **अतिभारारोपण** जीवधारी जितना बोझा उठा सके उससे अधिक लाद देना और **अन्नपाननिरोध** अर्थात् खाने पीनेको न देकर उन्हें भूखे प्यासे रखना, ये अहिंसाव्रतके पाँच अतीचार हैं। अर्थात् इनसे व्रतका एकोदेश भंग होकर अहिंसाव्रतमें दोष लगता है।

मिथ्योपदेशदानं[2] रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती ।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥१८४॥

अन्वयार्थौ—[**मिथ्योपदेशदानं**] झूठा उपदेश देना, [**रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती**] एकान्तको गुप्तबातोंका[3] प्रकट करना, झूठा लिखना, [**न्यासापहारवचनं**] धरोहरके (थातीके) हरण करनेका वचन[4] कहना [**च**] और [**साकारमन्त्रभेदः**] कायकी चेष्टाओंसे जानकर दूसरेका अभिप्राय प्रकट कर देना, ये पांच सत्याणुव्रतके अतीचार हैं।

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥

अन्वयार्थौ—[**प्रतिरूपव्यवहारः**] प्रतिरूप व्यवहार अर्थात् चोखी वस्तुमें खोटी वस्तु मिलाकर बेचना, [**स्तेननियोगः**] चोरीमें नियोग देना अर्थात् चोरी करनेवालोंको सहायता देना, [**तदाहृतादानम्**] चोरके द्वारा हरण की हुई वस्तुका ग्रहण करना, [**च**] और [**राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे**] राजाके प्रचलित किये हुए नियमोंका उल्लङ्घन करना; नापने तौलनेके गज, बाँट, पाई, तराजू आदिके मान हीनाधिक करना, (एते पञ्चास्तेयव्रतस्य] ये पांच अचौर्यव्रतके अतीचार हैं।

१–'बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः' (त० सू० अ० ७, सू० २५)। २–'मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः' (त० सू० अ० ७, सू० २६)। ३–स्त्रीपुरुषोंके एकान्तमें किये हुए कार्य। ४–कोई पुरुष कुछ द्रव्य धरोहर रखकर अवधि बीत जानेपर फिर लेनेको आवे और धरोहर द्रव्यकी संख्या भूलकर थोड़ी मानने लगे, तो उससे इस प्रकार कहना कि, जितना तू रख गया है ले जा। इस प्रकार जान बूझ करके पूरा द्रव्य न देना, ५–'स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः' (त० सू० अ० ७, सू० २७)।

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम्[1] ।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥१८६॥

अन्वयार्थौ—[**स्मरतीव्राभिनिवेशः**] कामसेवनकी अतिशय लालसा रखना, [**अनङ्गक्रीडा**] योग्य अङ्गोंके अतिरिक्त अङ्गोंसे कामक्रीड़ा करना, [**अन्यपरिणयनकरणम्**] अन्यका विवाह करना, [**च**] और [**अपरिगृहीतेतरयोः**] विना ब्याही (अनूढा) तथा उससे इतर अर्थात् ब्याही हुई (ऊढ़ा) [**इत्वरिकयोः**] व्यभिचारिणी स्त्रियोंके पास [**गमने**[2]] गमन (एते ब्रह्मव्रतस्य) ये ब्रह्मचर्यव्रतके [**पञ्च**] पाँच अतीचार हैं।

भावार्थ—व्यभिचारिणी स्त्री दो प्रकारकी होती हैं, एक तो अपरिगृहीता अर्थात् अनब्याही वेश्या दासी आदि, दूसरी परिगृहीता अर्थात् अन्यकी ग्रहण की हुई विवाहिता परकीया, सो इन दोनों प्रकारकी शीलभ्रष्ट स्त्रियोंके पास जाना, उनके स्तन कुक्षि जघनादि कामोत्तेजक अङ्गोंका देखना, तथा कुवचनालाप करके कुचेष्टा करना ये ब्रह्मचर्यव्रतके पांच अतीचार हैं।

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्[3] ।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च ॥१८७॥

अन्वयार्थौ—[**वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्**] घर, भूमि, सोना, चांदो, धन, धान्य, दास, दासियोंके और [**कुप्यस्य**] सुवर्णादिक धातुओंके अतिरिक्त वस्त्रादिकोंके [**भेदयोः**] दो दो भेदोंके [**अपि**] भी [**परिमाणातिक्रियाः**] परिमाणोंका उलङ्घन करना (एते अपरिग्रहव्रतस्य ये अपरिग्रहव्रतके [**पञ्च**] पांच अतीचार हैं।

भवार्थ—दो दो भेदोंके व्रत कहने का तात्पर्य यह है कि वास्तु क्षेत्रादिक आठके और कुप्यके दो दो करके पांच भेद करना अर्थात् १ घर भूमि, २ सोना चांदी, ३ धन धान्य, ४ सेवक सेविका, ५ रेशम और पाटके वस्त्र, इन प्रत्येकके परिमाणका उल्लंघन करनेसे पांच अतीचार होते हैं।

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम्[4] ।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥१८८॥

अन्वयार्थौ—[**ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः**] ऊपर,[5] नीचे[6] और समान[7] भूमिके किये हुए प्रमाणका व्यतिक्रम करना अर्थात् जितना प्रमाण लिया हो उससे बाहिर चले जाना, [**क्षेत्रवृद्धिः**]

१—परविवाहकरणेत्वरिकापरिग्रहीतापरिग्रहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः (त०सू०अ० ७ सू० २८)

२—पुंश्चलीवेश्यादासीनां गमनं जघनस्तनवदनादिनिरीक्षणसम्भाषणहस्तभ्रूकटाक्षादिसंज्ञाविधानम्, इत्येवमादिकं निखिलं रागित्वेन दुश्चेष्टितं गमनमित्युच्यते (श्रीस्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायाः श्रीशुभचन्द्राचार्यकृतसंस्कृतटीकायाम्)

३—क्षेत्रवास्तुहिरण्य-सुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः (त० अ० ७, सू० २९)।

४—ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि (त० अ० ७, सू ३०) ५—पर्वतादिकोंपर चढ़ना ६—कूपादिकोंमें नीचे उतरना। ७—बिल, तहखाना, गुहादिमें प्रवेश।

११

परिमाण किये हुए क्षेत्रकी लोभादिवश वृद्धि करना और [**स्मृत्यन्तरस्य**] स्मृतिके अतिरिक्त क्षेत्रकी मर्यादाका [**आधानम्**] धारण करना, अर्थात् याद न रखना [**इति**] इस प्रकार [**पञ्च**] पांच अतीचार [**प्रथमशीलस्य**] प्रथम शीलके अर्थात् दिग्व्रतके [**गदिताः**] कहे गये हैं।

प्रेष्यस्य[1] संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ।।१८९।।

अन्वयार्थौ—[**प्रेष्यस्य संप्रयोजनम्**] प्रमाण किये हुए क्षेत्रके बाहिर अन्य पुरुषको भेज देना, [**आनयनं**] वहांसे किसी वस्तुका मंगाना, [**शब्दरूपविनिपातौ**] शब्द सुनाना, रूप दिखाकर इशारे करना और [**पुद्गलानां**] कंकड़ पत्थरादि पुद्गलोंका [**क्षेपोऽपि**] फेंकना भी [**इति**] इस प्रकार [**पञ्च**] पांच अतीचार [**द्वितीयशीलस्य**] दूसरे शीलके अर्थात् देशव्रतके कहे गये हैं।

कन्दर्पः[2] कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ।।१९०।।

अन्वयार्थौ—[**कन्दर्पः**] कन्दर्प या कामके वचन कहना, [**कौत्कुच्यं**] भंडरूप अयुक्त कायचेष्टा, [**भोगानर्थक्यम्**] भोगोपभोगके पदार्थोंका अनर्थक्य, [**मौखर्यम्**] मुखरता या वाचालता [**च**] और [**असमीक्षिताधिकरणं**] विना विचारे कार्यका करना [**इति**] इस प्रकार [**तृतीयशीलस्य**] तीसरे शील अर्थात् अनर्थदण्डविरति व्रतके [**अपि**] भी [**पञ्च**] पांच अतीचार हैं।

भावार्थ—राग अधिकतासे निष्प्रयोजन अशिष्ट बोलनेको **कंदर्प**, विकाररूप दूषित कायचेष्टा बनानेको **कौत्कुच्य**, भोगोपभोगके पदार्थ बहुत मोल देकर लेनेको **भोगानर्थक्य**, व्यर्थ ही यद्वा तद्वा बकनेको **मौखर्य**, और प्रयोजनसे अधिक विना विचारे कार्य करनेको **असमीक्षिताधिकरण** कहते हैं।

वचनमनःकायानां[3] दुःप्रणिधानं त्वनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ।।१९१।।

अन्वयार्थौ—[**स्मृत्यनुपस्थानयुताः**] स्मृत्यनुपस्थानसहित, [**वचनमनःकायानां**] वचन, मन और कायकी [**दुःप्रणिधानं**] खोटी प्रवृत्ति, [**तु**] और [**अनादरः**] अनादर [**इति**] इस प्रकार [**चतुर्थशीलस्य**] चौथे शील अर्थात् सामायिक व्रतके [**पञ्च**] पांच [**एव**] ही अतीचार हैं।

भावार्थ— समायिक पढ़ते समय अशुद्ध पाठके उच्चारण करनेको **वचनदुःप्रणिधान**, अन्य-पदार्थोंकी ओर मनके चलायमान करनेको **मनोदुःप्रणिधान**, शरीरके चलाचलरूप करनेको **कायदुःप्रणिधान**, सामायिक क्रिया उत्साहहीन होकर करनेको **अनादर** और 'यह पाठ मैंने पढ़ा कि नहीं' ऐसी संशयरूप विस्मृतिको **स्मृत्यनुपस्थान** कहते हैं।

१-आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः (त०अ० ७, सू० ३१) २-कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि (त०अ०७, सू०३२)। ३-योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि (त०अ०७, सू०३३)

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं[1] संस्तरस्तथोत्सर्गः ।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१९२॥

अन्वयार्थौ—[**अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं**] विना देखे और विना शोधे ग्रहण करना [**संस्तरः**] बिछौना बिछाना, [**तथा**] तथा [**उत्सर्गः**] मल-मूत्रत्याग करना [**स्मृत्यनुपस्थानम्**] उपवासकी विधि भूल जाना [**च**] और [**अनादरः**] अनादर ये [**उपवासस्य**] उपवासके [**पञ्च**] पांच अतीचार हैं।

भावार्थ—प्रोषधोपवास व्रतमें पूजनकी सामग्री आदि विना शोधे तथा विना झाड़े हुए लेनेको **अनवेक्षिताप्रमार्जितादान**, इसी प्रकार देखे विना झाड़े विना बिछौना करनेको **अनवेक्षिताप्रमार्जित-संस्तर**, देखी हुई तथा शोधी हुई भूमिके विना मल-मूत्रोत्सर्ग करनेको **अनवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग**, प्रोषधविधिके विधान भूल जानेको **स्मृत्यनुपस्थान** और भूख प्यासके क्लेशसे उपवासमें उत्साहहीनता होनेको **अनादर** कहते हैं।

आहारो[2] हि सचित्तः सचित्तमिश्रः सचित्तसंबन्धः ।
दुष्पक्वोऽभिषवोपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥१९३॥

अन्वयार्थौ—[**हि**] निश्चय करके [**सचित्तः आहारः**] सचित्ताहार, [**सचित्तमिश्रः**] सचित-मिश्राहार, [**सचित्तसम्बन्धः**] सचित्तसंबंधाहार, [**दुष्पक्वः**] दुष्पक्वाहार [**च अपि**] और [**अभिषवः**] अभिषवाहार, [**अमी**] ये [**पञ्च**] पांच अतीचार [**षष्ठशीलस्य**] छट्ठे शील अर्थात् भोगोपभोगपरिमाणव्रतके हैं।

भावार्थ—चेतनायुक्त सजीव आहारको **सचित्ताहार**[3], सचित्तसे मिले हुए आहारको (जो पृथक् न किया जा सके), **सचित्तमिश्राहार**, सचित्तसे सम्बन्ध किये हुए अर्थात् स्पर्श किये आहारको **सचित्त-सम्बन्धाहार**, कष्टसे हजम हो सके ऐसे गरिष्ठ आहारको **दुष्पक्वाहार**[4], और दुग्ध घृतादि रस मिश्रित कामोत्पादक आहारको **अभिषवाहार**[5] कहते हैं। इनके करनेसे भोगोपभोग परिमाणव्रतका एकदेश भंग होता है, अर्थात् उक्त व्रतके ये पाँच अतीचार हैं।

परदातृव्यपदेशः[6] सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च ।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

अन्वयार्थौ—[**परदातृव्यपदेशः**] परदातृव्यपदेश, [**सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च**] सचित्त-

---

१—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि (तत्त्वार्थ सू० अ० ७, सू० ३४) २—सचित्तसंबन्धसन्मिश्राभिषवदुःपक्वाहारा (त० अ० ७, सू० ३५)। ३—भोगोपभोगपरिमाणव्रतके सचित्ताहार अतीचार है, परन्तु सचित्तत्यागव्रतीके अनाचार है। ४—दुष्पक्वाहारका पाचन यथार्थ न होकर वातादि रोग प्रकोप तथा उदर-पीड़ा होती है, जिससे असंयमकी वृद्धि होती है। ५—पौष्टिक आहारसे इन्द्रियमद बढ़ते हैं। ६—सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः (त० अ० ७, सू० ३६)।

निक्षेप और सचित्तपिधान, [**कालस्यातिक्रमणं**] कालका अतिक्रम, [**च**] और [**मात्सर्यं**] मात्सर्य, [**इति**] इस प्रकार [**अतिथिदाने**] अतिथिसंविभाग व्रतके पांच अतीचार होते हैं।

भावार्थ—किसी कार्यके वश बहाना बनाकर दूसरेसे दान देनेके लिये कह जानेको **परव्यपदेश**, कमल पत्रादि सचित्त वस्तुओंमें आहार रखनेको **सचित्तनिक्षेप**, सचित्त कमलादिक पत्रोंसे आहार ढँकनेको **सचित्तपिधान**, अतिथिके आहारका समय भूल जानेको **कालातिक्रम** और दाताओंसे ईर्षा करनेको अथवा उनकी प्रशंसा न सह सकनेको **मात्सर्य** कहते हैं।

जीवितमरणाशंसे[1] सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१९५॥

अन्वयार्थौ—[**जीवितमरणाशंसे**] जीविताशंसा, मरणाशंसा, [**सुहृदनुरागः**] सुहृदनुराग, [**सुखानुबन्धः**] सुखानुबन्ध [**च**] और [**सनिदानः**] निदानसहित [**एते**] ये [**पञ्च**] पांच अतीचार [**सल्लेखनाकाले**] समाधिमरणके समयमें [**भवन्ति**] होते हैं।

भावार्थ—असार शरीरकी स्थितिमें आदरवान् होके जीनेकी इच्छा करनेको **जीविताशंसा**, रोगादिककी पीड़ाके भय से शीघ्र ही मरनेकी इच्छा करनेको **मरणाशंसा**, पूर्वमें मित्रोंके साथ की हुई आनन्ददायिनी क्रीड़ाके स्मरण करनेको **सुहृदनुराग**, पूर्वकृत नाना प्रकारके भोगोपभोग स्त्री सुखादिकोंके चिन्तवन करनेको **सुखानुबन्ध** और भविष्यकालके भोगोंके वांछारूप चिन्तवनको **निदान** कहते हैं।

इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥१९६॥

अन्वयार्थौ—[**इति**] इस प्रकार गृहस्थ [**एतान्**] इन पूर्वमें कहे हुए [**अतिचारान्**] अतीचारोंको और [**अपरान्**] दूसरोंको अर्थात् अन्य दूषणोंके लगानेवाले अतिक्रम व्यतिक्रमादिकोंको [**अपि**] भी [**संप्रतर्क्य**] विचार कर, [**परिवर्ज्य**] छोड़ करके, [**अमलैः**] निर्मल [**सम्यक्त्वव्रतशीलैः**] सम्यक्त्व, व्रत और शीलों द्वारा [**अचिरात्**] थोड़े ही समयमें [**पुरुषार्थसिद्धिम्**] पुरुषके प्रयोजनकी सिद्धिको [**एति**] प्राप्त होता है।

भावार्थ—अतीचारोंके परिहारसे सम्यकत्व व्रत और शील शुद्ध होते हैं, और फिर उनके शुद्ध होनेपर आत्मा शीघ्र ही अपने इष्ट पदको प्राप्त होता है।

इति देशचारित्रकथनम्।

१–जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि (त० अ० ७ सू० ३७)।

५—सकलचारित्रव्याख्यान ।

चारित्रान्तर्भावात् तपोपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम् ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ॥१९७॥

अन्वयार्थौ—[**आगमे**] जैनआगममें [**चारित्रान्तर्भावात्**] चारित्रके अन्तर्वर्ती होनेसे [**तपः**] तप [**अपि**] भी [**मोक्षाङ्गम्**] मोक्षका अङ्ग [**गदितम्**] कहा गया है, इसलिये [**अनिगूहितनिजवीर्यैः**] अपने पराक्रमको नहीं छिपानेवाले तथा [**समाहितस्वान्तैः**] सावधान चित्तवाले पुरुषोंके द्वारा [**तदपि**] वह तप भी [**निषेव्यं**] सेवन करने योग्य है ।

भावार्थ—दर्शन, ज्ञान, और चारित्ररूप मोक्षमार्ग बतलाया गया है, और तप यह एक चरित्रका भेद विशेष है, इस कारण यह तप भी मोक्षका एक अङ्ग ठहरा, और इसी कारण शक्तिवान् सावधान पुरुषोंके सेवन करने योग्य है । तपश्चरण करने के लिये दो बातोंकी आवश्यकता है, एक तो अपनी शक्ति और दूसरा वशीभूत मन, क्योंकि जो पुरुष अपनी शक्तिको छुपाता है और कहता है कि मुझसे तप नहीं होता, उसका तप अङ्गीकार करना असंभव है और जो मन वशीभूत न होवे, तो तप अङ्गीकार करके भी इच्छा बनी रहेगी और इससे जहाँ इच्छा है, वहाँ तप नहीं है, क्योंकि "इच्छानिरोधस्तपः" यह तपका लक्षण है

अनशनमवमौदर्यं[1] विविक्तशय्यासनं रसत्यागः ।
कायक्लेशो वृत्तेः सङ्ख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्यम् ॥१९८॥

अन्वयार्थौ—[**अनशनम्**] अनशन, [**अवमौदर्यं**] ऊनोदर, [**विविक्तशय्यासनं**] विविक्तशय्यासन, [**रसत्यागः**] रसपरित्याग, [**कायक्लेशः**] कायक्लेश [**च**] और [**वृत्तेः संख्या**] वृत्तिकी संख्या [**इति**] इस प्रकार [**बाह्यं तपः**] बाह्य तप [**निषेव्यम्**] सेवन करने योग्य है ।

भावार्थ—तप दो प्रकारका है, एक **बाह्यतप** दूसरा **अन्तरंगतप** । जो नित्य नैमित्तिक क्रियाओंमें इच्छाके निरोधसे साधन किया जावे, और बाहिरसे दूसरेको प्रत्यक्ष प्रतिभासित होवे उसे बाह्यतप और जो अन्तरंग मनके निग्रहसे साधा जावे और दूसरोंकी दृष्टिमें न आ सके, उसे अन्तरंगतप कहते हैं । प्रथम बाह्यतपके छह भेद हैं, जिनमें खाद्य[2], स्वाद्य[3], लेह्य[4], पेय[5] रूप चार प्रकारके आहारके त्याग करनेको **अनशन**, भूखसे कम आहार करनेको **अवमोदय** अथवा ऊनोदर, विषयी जीवोंके सञ्चार रहित स्थानमें सोने बैठनेको **विविक्तशय्यासन**, दुग्ध, दही, घृत, तेल, मिष्टान्न, लवण इन छह रसोंके त्याग करनेको **रसपरित्याग**, शरीरको परीषह उत्पन्न करके पीड़ाके सहन करनेको **कायक्लेश**[6] और "अमुक

१—अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः (त० अ० ९, सू० १९)
२—उदर भरनेके लिये हाथसे खाने योग्य पदार्थ । ३—स्वादमात्र ताम्बूलादिक । ४—चाटनेके योग्य अवलेह आदिक । ५—पीने योग्य दुग्धादिक । ६—कायक्लेश और परीषहमें इतना भेद है, कि प्रयत्नपूर्वक कष्ट उपस्थित करके सहन करने को तो कायक्लेश कहते हैं, और स्वयं अकस्मात् आये हुए कष्टोंके सहन करनेको परीषह कहते हैं ।

प्रकारसे अमुक आहार मिलेगा, तो भोजन करूँगा अन्यथा नहीं," इस प्रकार प्रवृत्तिकी मर्यादा करनेको **वृत्तेः संख्या अथवा वृत्तिपरिसंख्या** कहते हैं।

प्रथम तपसे रागादिक जीते जाते हैं, कर्मोंका क्षय होता है, ध्यानादिककी सिद्धि होती है, दूसरे निद्रा नहीं आती, दोष घटते हैं, सन्तोष स्वाध्यायकी प्राप्ति होती है, तीसरेसे किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं होती, ब्रह्मचर्यका पालन होता है, ध्यानाध्ययनकी सिद्धि होती है, चौथेसे इन्द्रियोंका दमन होता है, निद्रा आलस्यका शमन होता है, स्वाध्याय-सुखकी सिद्धि होती है, पाँचवेंसे सुखकी अभिलाषा कृश होती है, रागका अभाव होता है, कष्ट सहन करनेका अभ्यास होता है, प्रभावनाकी वृद्धि होती है, और छट्ठे तपसे तृष्णाका विनाश होता है।

विनयो[1] वैयावृत्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः ।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति ।।१९९।।

अन्वयार्थौ—[**विनयः**] विनय, [**वैयावृत्यं**] वैयावृत्य, [**प्रायश्चित्तं**] प्रायश्चित्त [**तथैव च**] और तैसे ही [**उत्सर्गः**] उत्सर्ग, [**स्वाध्यायः**] स्वाध्याय, [**अथ**] पश्चात् [**ध्यानं**] ध्यान, [**इति**] इस प्रकार [**अन्तरङ्गम्**] अन्तरङ्ग [**तपः**] तप [**निषेव्यं**] सेवन करने योग्य [**भवति**] है।

भावार्थ—अन्तरङ्ग तपके छह भेद हैं, जिनमें आदरभावको **विनय** कहते हैं। यह विनय दो प्रकारका है–**१ मुख्यविनय २ उपचारविनय**। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको पूज्यबुद्धिसे आदरपूर्वक धारण करना यह **मुख्यविनय** है, और इनके धारण करनेवाले आचार्यादिकोंको आदरपूर्वक नमस्कारादि करना यह **उपचारविनय** है। इन आचार्यादिकोंकी भक्तिके वश परोक्षरूपमें उनके तीर्थ क्षेत्रादिकोंकी वन्दना करना यह भी उपचारविनयका भेद है। पूज्य पुरुषोंकी सेवा चाकरी करनेको **वैय्यावृत्य** कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं–एक **कायचेष्टाजन्य** जैसे हाथसे पदसेवन करना, दूसरा **परवस्तुजन्य** जैसे भोजनके साथमें औषधादिक देकर साधुओंको रोग पीड़ासे मुक्त करना, प्रमादसे उत्पन्न हुए दोषोंको प्रतिक्रमणादि पाठ अथवा तप व्रतादि अङ्गीकार करके दूर करनेको **प्रायश्चित्त** कहते हैं, धन धान्यादिक बाह्य तथा क्रोध मानादि अन्तरङ्ग परिग्रहोंमें अहंकार ममकाररूप बुद्धिके त्याग करनेको **उत्सर्ग** कहते हैं। ज्ञानभावनाके लिये आलस्य रहित होकर श्रद्धानपूर्वक जैनसिद्धान्तोंका स्वतः पढ़ना, बारम्बार अभ्यास करना, धर्मोपदेश देना, और दूसरोंसे सुनना, इसे **स्वाध्याय** कहते हैं, और समस्त चिन्ताओंका त्यागकर धर्ममें तथा आत्मचिन्तवनमें एकाग्र होनेको **ध्यान** कहते हैं।

प्रथम अन्तरङ्ग तपसे मानकषायका विनाश होकर ज्ञानादि गुणोंकी प्राप्ति होती है, दूसरेसे गुणानुराग प्रकट होकर मानका अभाव होता है, तीसरेसे व्रतादिकोंकी शुद्धता होकर परिणाम निःशल्य हो जाते हैं, तथा मानादिक कषाय कृश होते हैं, चौथेसे निष्परिग्रहत्व प्रकट होकर मोह क्षीण होता है, पाँचवेंसे बुद्धि स्फुरायमान होकर परिणाम उज्ज्वल रहते हैं, संवेग होता है, धर्मकी वृद्धि होती है, और छट्ठेसे मन वशीभूत होकर अनाकुलताकी प्राप्तिसे परम आनन्दमें मग्न हो जाता है।

१–प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् (त० अ० ९ सू० २०)।

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम् ।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

अन्वयार्थौ—[**जिनपुङ्गवप्रवचने**] जिनेश्वरके सिद्धान्तमें [**मुनीश्वराणां**] मुनीश्वर अर्थात् सकलव्रतियोंका [**यत्**] जो [**आचरणम्**] आचरण [**उक्तम्**] कहा है, सो [**एतत्**] यह [**अपि**] भी गृहस्थोंको [**निजां**] अपनी [**पदवीं**] पदवी [**च**] और [**शक्तिं**] शक्तिको [**सुनिरूप्य**] भले प्रकार विचार करके [**निषेव्यम्**] सेवन करने योग्य कहा है ।

भावार्थ—इस ग्रन्थमें मुख्यतासे गृहस्थाचारका वर्णन किया गया है, और जो थोड़ा बहुत यतियोंका आचरण वर्णन किया है, वह गृहस्थाचारके प्रयोजनसे ही किया है, इसलिये गृहस्थोंको चाहिये कि अपनी योग्यता और शक्तिका विचार करके उसका ग्रहण करें, क्योंकि मुनीश्वरोंकी संयमादि क्रिया एकोदेश अर्थात् कुछ अंशोंमें गृहस्थपदमें भी कर्तव्य है, सर्वदेश केशलुंचनादि क्रियायें मुनीश्वरपदके ही योग्य हैं, गृहस्थोंके नहीं ।

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम् ।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम् ॥२०१॥

अन्वयार्थौ—[**समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्**] समता, स्तव, वन्दना प्रतिक्रमण [**प्रत्याख्यानं**] प्रत्याख्यान [**च**] और [**वपुषो व्युत्सर्गः**] कायोत्सर्ग [**इति**] इस प्रकार [**इदम्**] ये [**आवश्यकषट्कं**] छह आवश्यक [**कर्त्तव्यम्**] करना चाहिये ।

भावार्थ—सम्यक् भावोंके करनेको **समता**, तीर्थंकरोंके गुणोंके कीर्तनको **स्तव**, उनके सम्मुख शिरादि अङ्गोंके नम्रीभूत करनेको **वन्दना**, प्रमादकृत पूर्वदोषोंके दूर करनेको **प्रतिक्रमण**, त्यागभावोंसे आगामीकालसम्बन्धी आस्रवके रोकनेको **प्रत्याख्यान**, और कायके त्याग करने अर्थात् पाषाणकी मूर्तिके समान निष्कम्प अचल होकर सामायिकमें स्थित होनेको **कायोत्सर्ग** कहते हैं । ये छह क्रियायें श्रावककी अत्यन्त आवश्यक हैं, इसीसे इनका नाम षट् आवश्यक क्रिया है ।

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य ।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम् ॥२०२॥

अन्वयार्थौ—[**वपुषः**] शरीरका [**सम्यग्दण्डः**] भले प्रकार अर्थात् शास्त्रोक्त विधिसे वश करना [**तथा**] तथा [**वचनस्य**] वचनका [**सम्यग्दण्डः**] भले प्रकार अवरोधन करना [**च**] और [**मनसः**] मनका [**सम्यग्दण्डः**] सम्यक्तया निरोधन करना इस प्रकार [**गुप्तीनां त्रितयम्**] गुप्तियोंके त्रिकको अर्थात् तीन गुप्तियोंको [**अवगम्यम्**] जानना चाहिये ।

भावार्थ—ख्याति लाभ पूजादिकी वांछाके बिना मनोवचनकायकी[1] स्वेच्छाओंके रोक लेनेको गुप्ति कहते हैं । इन्हें साधारणतः मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति कहते हैं ।

सम्यग्गमनागमनं[2] सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् ।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ॥२०३॥

१—सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः (त० अ० ९, सू० ४) । २—ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः (त० अ० ९, सू० ५) ।

अन्वयार्थौ—[**सम्यग्गमनागमनं**] सावधान होकर भले प्रकार गमन और आगमन, [**सम्यग्भाषा**] उत्तम हितमितरूप वचन, [**सम्यक् एषणा**] योग्य आहारका ग्रहण, [**सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ**] पदार्थका यत्नपूर्वक ग्रहण और यत्नकपूर्वक क्षेपण अर्थात् धरना [**तथा**] और [**सम्यग्व्युत्सर्गः**] प्रासुक भूमि देखकर मल मूत्रादिक त्यागना [**इति**] इस प्रकार ये पांच [**समिति**] समिति हैं।

भावार्थ—प्राण-पीड़ा-परिहार करनेमें पाँच **समिति** उत्तम उपाय हैं। इनके **ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति** और **उत्सर्गसमिति** ये पाँच प्रचलित नाम हैं। श्लोकमें इन्हीं नामोंके वाचक अन्य शब्द दिये गये हैं। मुनी और श्रावक दोनोंको इनकी पालना यथोचित् करनी चाहिये।

धर्मः[1] **सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।**
आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥२०४॥

अन्वयार्थौ—[**क्षान्तिः**] क्षमा, [**मृदुत्वम्**] मृदुपना अर्थात् मार्दव, [**ऋजुता**] सरलपना अर्थात् आर्जव, [**शौचम्**] शौच, [**अथ**] पश्चात् [**सत्यम्**] सत्य, [**च**] तथा [**आकिञ्चन्यं**] आकिंचन, [**ब्रह्म**] ब्रह्मचर्य, [**च**] और [**त्यागः**] त्याग, [**च**] और [**तपः**] तप, [**च**] और [**संयमः**] संयम [**इति**] इस प्रकार [**धर्मः**] दस प्रकारका धर्म [**सेव्यः**] सेवा करनेके योग्य है।

भावार्थ—क्रोध कषायके कारण परिणामोंके कलुषित न होने देनेको **क्षमा**, जात्यादि अष्ट मदके न करनेको **मार्दव**, मनोवचनकायकी क्रियाओंके वक्र न रखनेको तथा कपटके त्यागको **आर्जव**, अंतः-करणमें लोभ गृद्धताके न्यून करनेको तथा बाह्य शरीरादिकमें पवित्रता रखनेको **शौच**, यथार्थ वचन कहनेको **सत्य**, परिग्रहके अभावको तथा शरीरादिकमें ममत्व न रखनेको **आकिंचन**, कर्मक्षय करनेके लिये अनशनादि करनेको तथा इच्छाके निरोध करनेको **तप**, दूसरे जीवोंको दयाभाव करके ज्ञान आहारादि दान देनेको **त्याग**, इन्द्रियनिरोधन तथा त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षाको **संयम**, और आत्मामें तल्लीन रहने तथा स्त्री-संभोगके त्याग करनेको **ब्रह्मचर्य** कहते हैं। ये दशों धर्म अपनी अपनी योग्यतानुसार मुनि और श्रावक दोनोंको धारण करना चाहिये।

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥२०५॥

अन्वयार्थौ [**अध्रुवम्**] अध्रुव [**अशरणम्**] अशरण, [**एकत्वम्**] एकत्व, [**अन्यता**] अन्यत्व, [**अशौचम्**] अशुचि, [**आस्रवः**] आस्रव, [**जन्म**] संसार, [**लोकवृषबोधिसंवर-निर्जराः**] लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, संवर और निर्जरा (एता द्वादशभावना) ये बारह भावनायें [**सततम्**] निरन्तर [**अनुप्रेक्ष्याः**] बार बार चिन्तवन तथा मनन करना चाहिये।

भावार्थ—मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) जनोंको उपर्युक्त बारह भावनायें अथवा द्वादशानुप्रेक्षाओंका चिन्तवन निरन्तर करना चाहिये। ये भावनायें परम (उत्कृष्ट) वैराग्यको प्राप्त करनेवाली हैं। अनुप्रेक्षा

१—उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः (त० अ० ९, सू० ६)।

शब्दका अर्थ बार बार चिंतवन वा मनन करना है, यह शब्द प्रत्येक नामके साथ संयोजित कर देना चाहिये। यथा:—

१—अध्रुवानुप्रेक्षा[1]—इस संसारमें शरीर सम्पदादि यावन्मात्र पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, वे सब ध्रुव नहीं हैं, जलके बुद्बुदेके समान तथा मेघोंके पटलके समान अनवस्थित हैं। खल पुरुषोंकी मैत्रीके समान अस्थिर हैं, गिरती हुई नदीके प्रवाहके समान क्षणविनश्वर हैं।

२—अशरणानुप्रेक्षा[2]—जैसे निर्जन वनमें सिंहसे पकड़े हुए हरिणके बच्चेको कोई भी शरण नहीं है अथवा कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं है, उसी प्रकार इस संसाररूपी गहन वनमें मृत्युसे पकड़े हुए जीवको कोई शरण नहीं है।

अथवा[3] जैसे अपार समुद्रमें चलते हुए जहाजपर बैठे हुए पक्षीको जहाज छूट जानेसे कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार इस संसार–समुद्रमें जीवको कोई शरण नहीं है।

यदि सुरेन्द्रादिक[4] देव भी मृत्युसे रक्षा पानेमें समर्थ होते, तो फिर वे सम्पूर्ण भोगोंसे परिलिप्त स्वर्गवासको क्यों छोड़ते? कभी नहीं।

३—संसारानुप्रेक्षा—यह जीव पंचपरावर्त्तनरूप[5] संसारमें नाना प्रकारकी कुयोनियोंमें भ्रमण करता है, कर्मरूपी यंत्रकी प्रेरणासे कभी स्वर्गमें जाता है, कभी नरकमें जाता है, और कभी निगोदादिककी महादुःखमय योनिमें जा पड़ता है। देखा जाता है, कि जो[6] पुरुष पूर्वजन्ममें पिता था, वह इस

१—त्याहग्बोधचरित्ररत्ननिचयं मुक्त्वा शरीरादिकाः। न स्थेयाभ्रतडित्सुरेन्द्रधनुरम्भोबुद्बुदाभाः क्वचित्॥
एवं चिन्तयतोऽभिषङ्गविगमं स्याद् भुक्तमुक्तासने। यद्वत्तद्विलयेऽपि नोचितमिवं संशोचनं श्रेयसे॥ (ग्रन्थान्तरे)

२-सीहस्स कमे पडिदं सारंगं जह ण रक्खदे कोवि।
तह मिच्चुणा य गहिदं जीवं पि ण रक्खदे कोवि॥२४॥
सिंहस्य क्रमे पतितं सारङ्गं यथा न रक्षति कोपि।
तथा मृत्युना च गृहीतं जीवमपि न रक्षति कोपि॥२४॥—स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा

३—उत्तोदयेऽर्थनिचये हृदये स्वकार्ये सर्वः समाहितमतिः पुरतः समस्ते।
जाते त्वपायसमयेऽम्बुपतौ पतत्रेः पोतादिव द्रुतवतः शरणं न तेऽस्ति॥—यशस्तिलकचम्पू

४-अप्पाणं पि चवंतं जइ सक्कदि रक्खिदुं सुरिंदो वि।
तो किं छंडदि सग्गं सव्वुत्तम-भोय-संजुत्तं॥२६॥
आत्मानमपि च्यवन्तं यदि शक्नोति रक्षितुं सुरेन्द्रोपि।
तत् किं त्यजति स्वर्गं सर्वोत्तमभोगसंयुक्तम्॥—स्वा० का०

५—द्रव्यपरावर्त्तन, क्षेत्रपरावर्त्तन, कालपरावर्त्तन, भवपरावर्त्तन और भावपरावर्त्तन।

६—पुत्तो वि भाओ जाओ सो चिय भाओ वि देवरो होदि।
माय होदि सवत्ती जणणो वि य होदि भत्तारो॥६४॥
एयम्मि भवे एदे संबंधा होंति एय-जीवस्स।
अण्ण-भवे किं भण्णइ जीवाणं धम्म-रहिदाणं॥६५॥

पुत्रोऽपि भ्राता जातः स एव भ्रातापि देवरः भवति। माता भवति सपत्नी जनकः अपि च भवति भर्ता॥६४॥
एकस्मिन् भवे एते सम्बन्धाः भवन्ति एकजीवस्य। अन्यभवे किं भण्यते जीवानां धर्मरहितानाम्॥६५॥

जन्ममें पुत्र होता है, सेवक स्वामी होता है, स्त्री माता होती है और माता स्त्री होती है, और तो क्या आप ही मरकर अपने वीर्य्यसे अपना ही पुत्र होता है, फिर ऐसे संसारमें विश्वास करना कैसा ? संसारमें कहीं भी सुख नहीं है। किसीके[1] धन धान्य सेवक हस्ती घोटकादि समस्त वैभवकी सामग्री है, परन्तु पुत्र न होनेसे अत्यन्त दुखी है, जिसके पुत्री पुत्रादिक हैं, वह लक्ष्मीके न होनेसे दुखी है, जिसके सम्पत्ति और संतति दोनों हैं, वह शरीरसे नीरोगी न रहनेके कारण दुखी है, कोई स्त्रीकी अप्राप्तिसे दुखी है, तथा जिसके स्त्री है, वह उसके कठोर स्वभावसे दुखी है, किसीका पुत्र कुमार्गगामी है, किसी की पुत्री दुश्चरित्रा है, सारांश संसारमें कोई भी सुखी नहीं है।

४—**एकत्वानुप्रेक्षा**—यह जीव सदाका अकेला है, परमार्थदृष्टिसे इसका मित्र कोई नहीं है. अकेला आया है, अकेला दूसरी योनिमें चला जायगा। अकेला ही बूढ़ा होता है। अकेला ही जवान होता है, और अकेला ही बालक होकर क्रीड़ा करता फिरता है। अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही दुखी होता है, अकेला ही पाप कमाता है, और अकेला ही उसके फलको भोगता है, बंधु वर्गादिक कोई भी स्मशानभूमिसे आगेके साथी नहीं है, एक धर्म ही साथ जानेवाला है।

५—**अन्यत्वानुप्रेक्षा**—यद्यपि इस शरीरसे मेरा अनादि कालसे सम्बन्ध है, परन्तु यह[2] अन्य है और मैं अन्य ही हूं। यह इन्द्रियमय है, मैं अतीन्द्रिय हूं, यह जड़ हैं, मैं चैतन्य हूं। यह अनित्य है, मैं नित्य हूं। यह आदि अन्त संयुक्त है, मैं अनादि अनन्त हूं। सारांश, शरीर और मैं सर्वथा भिन्न हूं। इसलिये जब अत्यन्त समीपस्थ शरीर भी अपना नहीं है, तो फिर स्त्री कुटुम्बादिक अपने किस प्रकार हो सकते हैं ? ये तो प्रत्यक्ष ही दूसरे हैं।

६—**अशुचित्वानुप्रेक्षा**—यह शरीर अतिशय अपवित्रताका योनिभूत और बीभत्सयुक्त है। माता पिताके मलरूप रज और वीर्यसे इसकी उत्पत्ति है, इसके संसर्गमात्रसे अन्य पवित्र सुगन्धित पदार्थ महा अपवित्र तथा घिनावने हो जाते हैं। शरीर इतना निंद्य पदार्थ है, कि यदि इसके ऊपर त्वचाजाल नहीं होता, तो इसकी ओर देखना भी कठिन हो जाता।

विषयाभिलाषी जीव यद्यपि इसे ऊपरसे नाना प्रकारके वस्त्राभूषणों तथा सुगन्धि द्रव्योंसे

१-कस्स वि णत्थि कलत्तं अहव कलत्तं ण पुत्त-संपत्ती।
अह तेसिं संपत्ती तह वि सरोओ हवे देहो ॥५१॥
अह णीरोओ देहो तो धण-धण्णाण णेयसंपत्ती।
अह धण-धण्णं होदि हु तो मरणं झत्ति ढुक्केदि ॥२॥
कस्स वि दुट्ठ-कलत्तं कस्स वि दुव्वसण-वसणिओ पुत्तो।
कस्स वि अरि-सम-बंधू कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया ॥५३॥

कस्यापि नास्ति कलत्रं अथवा कलत्रं न पुत्रसम्प्राप्तिः। अथ तेषां सम्प्राप्तिः तथापि सरोगः भवेत् देहः ॥५१॥
अथ नीरोगः देहः तदा धनधान्यानां नैव सम्प्राप्तिः। अथ धनधान्यं भवति खलु तदा मरणं झटिति ढौकते॥५२॥
कस्यापि दुष्टकलत्रं कस्यापि दुर्व्यसनव्यसनिकः पुत्रः।
कस्यापि अरिसमबन्धुः कस्य अपि दुहितापि दुश्चरिता ॥ ५३॥ (स्वा० का०)

२-देहात्मकोऽहमिति चेतसि मा कृथास्त्वं, त्वत्तो यतोऽस्य वपुषः परमो विवेकः ॥
त्वं धर्मशर्मवसतिः परितोऽवसायः, कायः पुनर्जडतया गतधीनिकायः ॥ (य० ति च० १२३)

चमकीला बनाया करते हैं; परन्तु यह[1] भीतरसे सम्पूर्ण कुथित जीवोंका पिंड, कृमि समूहसे लिप्त, अतीव दुर्गंधित मल मूत्र श्लेष्मादि मलिन पदार्थोंका घर है, जिस प्रकार मलनिर्मित घड़ा धोनेसे किसी प्रकार पवित्र नहीं हो सकता उसी प्रकार यह शरीर स्नान विलेपनादिसे कभी विशुद्ध नहीं हो सकता, संसारमें यदि इसके पवित्र करनेका कोई उपाय है तो वह यही है, कि सम्यग्दर्शनकी भावना निरन्तर की जावे।

७–**आस्रवानुप्रेक्षा**—पाँच मिथ्यात्व[2], बारह अव्रत[3], पच्चीस कषाय[4], और पन्द्रह योग[5] इस प्रकर सत्तावन द्वारोंसे जीवके शुभाशुभ कर्मोंका आगमन होता है, यही आस्रव है। यह शुभ और अशुभरूप दो प्रकारका है। शुभयोगजन्य कर्मोंके आस्रवको **शुभास्रव** और अशुभयोगजन्य कर्मोंके आस्रवको **अशुभास्रव** कहते हैं। इस आस्रवसे बंध होता है, और बंध संसारका मूलकारण है, इसलिये मोक्षाभिलाषी जनोंको इससे विमुख रहना चाहिये, इस प्रकार भावनापूर्वक आस्रवके[6] स्वरूपका चिन्तवन करनेको आस्रवानुपेक्षा कहते हैं।

८–**संवरानुप्रेक्षा**—"**आस्रवनिरोधः संवरः**" अर्थात् कर्मोंके आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं, इस संवरके कारणभूत पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दशलाक्षणिक धर्म, द्वादशानुप्रेक्षा, और बावीस परीषहोंके चिन्तवन करनेको संवरानुप्रेक्षा कहते हैं।

९–**निर्जरानुप्रेक्षा**—पूर्वसंचित कर्म-समूहके उदयमें आकर तत्काल ही निर्जर जाने अर्थात् झड़ जानेको निर्जरा कहते हैं। यह दो प्रकाकी होती है, एक **सविपाकनिर्जरा** दूसरी **अविपाकनिर्जरा**। पूर्व-संचितकर्मोंकी स्थिति पूर्ण होकर उनके रस (फल) देकर स्वयं झड़ जानेको **सविपाकनिर्जरा** कहते हैं, और तपश्चर्या परीषहविजयादिके द्वारा कर्मोंके स्थिति पूरे किये विना ही झड़ जानेको **अविपाकनिर्जरा** कहते हैं। आम्रफलका वृक्षमें लगे हुए काल पाकर स्वयं पक जाना **सविपाकनिर्जराका** और पदार्थ विशेषमें

१–सयल-कुहियाण पिंडं किमि-कुल कलियं-अपुव्व-दुग्गंधं।
मल-मुत्ताणं गेहं जाणेहि असुइमयं ॥८३॥

सकलकुथितानां पिण्डं कृमिकुलकलितमपूर्वदुर्गन्धम्।
मलमूत्राणां च गेहं देहं जानीहि अशुचिमयम् ॥ ८३ ॥ (स्वा० का० प्रे०)

२–एकान्तमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, अज्ञानमिथ्यात्व। ३–पाँच इन्द्रियजन्य तथा एक मनोजन्य असंयम और छह कायके जीवोंकी अदया। ४–अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ, और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, ये १६ कषाय और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक ये ९ नो कषाय, ५–सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग, अनुभयमनोयोग, सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभयवचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग, कार्माणकाययोग।

६–मण-वयण-कायजोया जीवपयेसाण फंदण-विसेसा।
मोहोदयेण जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति ॥८८॥

मनोवचनकाययोग जीवप्रदेशानां स्पन्दनविशेषाः।
मोहोदयेन युक्ताः वियुताः अपि च आस्रवाः भवन्ति ॥ ८८ ॥—स्वा० का० प्रे०

दबाकर गर्मीके द्वारा पकाया जाना अविपाकनिर्जराका उदाहरण है। सविपाकनिर्जरा सम्पूर्ण संसारी जीवोंके होती है, परन्तु अविपाकनिर्जरा[1] सम्यग्दृष्टि सत्पुरुषों तथा व्रतधारियोंके ही होती है। निर्जराके स्वरूपका इस प्रकार चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

१०—**लोकानुप्रेक्षा**—दशों दिशागत शून्यरूप अनन्त अलोकाकाश है। इस अलोकाकाशके बहुमध्यवर्ती देशमें पुरुषोंके आकार (सदृश) लोक स्थित है, यह लोक अनादिनिधन स्वयंसिद्ध रचनाके द्वारा स्थिर है। इसका न कोई कर्त्ता है और न कोई हर्त्ता है। इस पुरुषाकार[2] लोकका उरुजंघादिदेश अधोलोक है। कटितटप्रदेश मध्यलोक है; उदरप्रदेश माहेन्द्र स्वर्गान्त है, हृदयप्रदेश ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्ग है, स्कन्ध प्रदेश आरणाच्युत स्वर्ग है, महाभुजायें दोनों ओरकी मर्यादा हैं, कण्ठदेश नवग्रैवेयिक है, दाँढ़ीदेश अनुदिशि है, ललाटदेश सिद्धक्षेत्र है और मस्तक सिद्धस्थान है। इस प्रकार पुरुषाकार लोककी आकृति ध्यानमें स्थितकर बारम्बार चिन्तवन करनेको लोकानुप्रेक्षा कहते हैं।

११—**बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा**—इस घोर दुःखरूप संसारमें निगोद राशिसे निकलकर त्रस जन्मकी प्राप्ति दुर्लभ है। त्रस जन्ममें भी पंचेन्द्रिय महासमुद्रमें गिरी हुई वज्रकणिकाकी प्राप्तिके तुल्य महादुर्लभ है, पंचेन्द्रियमें भी मनुष्य होना सब गुणोंमें कृतज्ञता गुणकी नाईं अति दुर्लभ है। एक मनुष्यपर्यायके पूर्ण होनेपर उसका पुनः प्राप्त करना मुख्यमार्गमें पड़े हुए रत्नके समान अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य जन्ममें भी उत्तम कुल, उत्तम देश इन्द्रियोंकी पूर्णता, आरोग्यता, और सम्पत्ति पाना भस्मीभूत वृक्षकी भस्मसे वृक्षकी फिरसे उत्पत्तिके समान उत्तरोत्तर दुर्लभ है। अन्तमें जाकर परम अहिंसामयी धर्म, धर्ममें उत्तम श्रद्धा, गृहस्थधर्म, यतिधर्म तथा समाधिमरण पाना तो अतिशय दुर्लभ है। इस प्रकार रत्नत्रय रत्नके चिन्तवन करनेको बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं, अथवा परवस्तुकी प्राप्ति जो अपने वशमें नहीं है, वह होवे अथवा न होवे, परन्तु अपना स्वभाव आपमें ही है, कहींसे लाना नहीं है; उसकी प्राप्ति दुर्लभ क्यों मानना चाहिये? इस प्रकारके चिन्तवनको भी दुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं।

१२-**धर्मानुप्रेक्षा**—यह सर्वज्ञप्रणीत जैनधर्म अहिंसालक्षणयुक्त है। सत्य, शौच ब्रह्मचर्यादि इसके अङ्ग हैं। इनकी अप्राप्तिसे जीव अनादि संसारमें परिभ्रमण करता है, पापके उदयसे दुःखी होता है, परन्तु इसकी प्राप्तिसे अनेक सांसारिक सम्पदाओंका भोग करके मुक्ति प्राप्तिसे सुखी होता है. इस प्रकार चिन्तवन करनेको धर्मानुप्रेक्षा कहते हैं।

क्षुत्तृष्णा[3] हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ॥२०६॥

१—इसके भी दो भेद हैं, एक शुभानुबन्धा और दूसरी निरनुबन्धा, जिससे स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति होती है, उसे शुभानुबन्धा और जिससे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है, उसे निरनुबन्धा कहते हैं। २–जैनधर्मका पुरुषाकार लोक जाननेके लिये तिल्लोयपण्णत्ति, धवलसिद्धान्त ग्रन्थ, त्रिलोकसार, जम्बूदीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि महान ग्रन्थ देखना चाहिए।

३–क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि (त० सू० अ० ९ सू० ९)

स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा ।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्य्या वधो निषद्या स्त्री ।।२०७।।
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम् ।
संक्लेशमुक्तमनसा सक्लेशनिमित्तभीतेन ।।२०८।। विशेषकम् ।

अन्वयार्थौ - [**संक्लेशमुक्तमनसा**] संक्लेशरहित चित्तवाले[1] और [**संक्लेशनिमित्तभीतेन**] संक्लेश निमित्तसे अर्थात् संसारसे भयभीत साधु करके [**सततम्**] निरन्तर ही [**क्षुत्**] क्षुधा, [**तृष्णा**] तृषा, [**हिमम्**] शीत, [**उष्ण**] उष्ण, [**नग्नत्वं**] नग्नता, [**याचना**] प्रार्थना, [**अरति**] अरति, [**अलाभः**] अलाभ, [**मशकादीनां दंशः**] मच्छरादिकोंका काटना [**आक्रोशः**] कुवचन, [**व्याधिदुःखम्**] रोगका दुःख, [**अङ्गमलम्**] शरीरका मल, [**तृणादीनां स्पर्शः**] तृणादिकका स्पर्श [**अज्ञानम्**] अज्ञान, [**अदर्शनं**] अदर्शन, [**तथा प्रज्ञा**] इसी प्रकार प्रज्ञा, [**सत्कारपुरस्कारः**] सत्कार, पुरस्कार, [**शय्या**] शयन, [**चर्य्या**] गमन, [**वधः**] वध, [**निषद्या**] बैठना, [**च**] और [**स्त्री**] स्त्री [**एते**] ये [**द्वाविंशतिः**] बावीस [**परीषहाः**] परीषह [**अपि**] भी [**परिषोढव्याः**] सहन करने योग्य हैं ।

भावार्थ-उपर्युक्त बावीस परीषहोंका जीतना मुनियोंका परम कर्त्तव्य है । इन परीषहों अर्थात् उपसर्गोंके सहनेसे मुनि अपने मार्गमें निश्चल रहता है, और क्षण क्षणमें अनन्त कर्मोंकी निर्ज्जरा करता है । परीषहोंके सहनमें किसी प्रकार कायरता धारण नहीं करना चाहिये और यदि चित्त किसी प्रकार कायर होनेके सम्मुख होवे तो वस्तुके यथार्थ स्वरूपको विचारकर (जैसा प्रत्येक परीषहके वर्णनमें बतलाया जावेगा) उसे उसी समय सुदृढ़ करना चाहिये । परीषहोंका जय किये बिना चित्तकी निश्चलता नहीं होती, चित्तकी निश्चलता बिना ध्यानावस्थित नहीं हो सकता । ध्यानावस्थित हुए बिना कर्म दग्ध नहीं हो सकते और कर्मोंके दग्ध हुए बिना मोक्षकी प्राप्ति असंभव है। अतएव मोक्षाभिलाषी और संसार-दुःखसे भयभीत मुनियोंका पूर्णरूपसे औरगृहस्थोंका यथाशक्ति परीषह जय करना परम कर्तव्य है ।

१-क्षुधापरीषहजय—भूखकी वेदना होनेपर उसके वशवर्त्ती न होकर दुःख सह लेनेको कहते है । जिस समय मुनिको क्षुधाकी तीव्र वेदना होवे, उस समय उन्हें सोचना चाहिये, कि हे जीव ! तूने अनादि कालसे संसार परिभ्रमणकरके अनन्त पुद्गल समूहोंका भक्षण किया तो भी तेरी भूख न गई ! तूने नरक गतिमें ऐसी तीव्र क्षुधावेदना सही है, कि जिसको सुनकर चकित होना पड़ता है । अर्थात् तुझे वहाँ सुमेरु पर्वतके बराबर अन्नराशि भक्षण करने योग्य क्षुधा थी, परन्तु एक कणमात्र भी नहीं मिलता था ! मनुष्य तिर्यञ्चगतिमें बंदीगृहमें पड़े पड़े तूने अनन्त बार क्षुधा सहन की है, फिर अब मुनिव्रतको ग्रहण करके अत्यन्त स्वाधीन वृत्तिको धारण करते हुए भी तू इस अल्प वेदनासे कायर होता है ? देख, अन्य मुनीश्वर पक्षोपवास मासोपवास कर रहे हैं, उन्हें क्षुधाका दुःख नहीं है, फिर तुझे क्यों होना चाहिये ? अब अनन्त बार किये हुए भोजनकी लालसा छोड़कर ज्ञानामृतका भोजन करना चाहिये । इत्यादि विचारकर क्षुधाजनित दुःखको सह लेना सो क्षुधा परीषहजय है ।

१-अर्थात् जिसके चित्तमें क्लेश नहीं है ।

२–तृषापरीषहजय—प्यासकी असह्य वेदना होनेपर उसके वशीभूत होकर जल-पानादि न करके दुःख सह लेनेको कहते हैं। उष्णताकी पुंज ग्रीष्मऋतुमें पहाड़के शिखरपर आरूढ़ मुनिको उपवासोंकी तीव्र उष्णतासे जिस समय तृषावेदना होती है, उस समय वे विचारते हैं:–हे जीव ! तूने संसारमें अनेक बार जन्म धारण करके अनेक बार अनेक गतिमें अतिशय दुःसह तृषा वेदनाका सहन किया है, फिर इस थोड़ीसी वेदनासे कायर क्यों होता है ? मुनिकी स्वतंत्र सिंहवृत्तिका आचरण करके कायर होना लज्जाकी बात है। जगत्पूज्य इस मुनि अवस्थामें दुर्लभ ज्ञान-पीयूषका पान कर।

३–शीतपरीषहजय—शीतका कष्ट सहन करनेको कहते हैं। जिसमें हवाके एक झोंकेसे जगत्के जीवोंकी शरीरयष्टि थर-थर कांपने लगती है, सरोवरोंके जल जिसके डरसे पत्थर (बर्फ) हो जाते हैं। हरित वृक्षोंके समूह तथा कमल-वन जिस समय तुषारसे जल जाते हैं। तेल, अग्नि, ताम्बूलादि उष्ण पदार्थोंका सेवन करते हुए भी मनुष्य घरमेंसे बाहिर नहीं हो सकते, ऐसी हेमन्तऋतुमें सरित सरोवरादि जलाशयोंके किनारे कायोत्सर्ग अथवा पद्मासनस्थित मुनिवरोंको जब शीत सताता है, तब वे विचार करते हैं:–हे जीव ! तूने छट्ठे सातवें नरक प्रदेशकी उस महाशीत वेदनाको सहन किया है, जिसकी तुलना करनेसे यह उपस्थित वेदना सुमेरुके सम्मुख एक अणुके तुल्य है। यदि तू इस महा मुनिवृत्तिको धारणकर इसे जीत लेगा, तो सदाके लिये इससे छुटकारा हो जावेगा। नहीं तो फिर इससे भी दुस्सह शीत अनन्त संसारमें अनन्त बार सहना पड़ेगा।

४–उष्णपरीषहजय—उष्णताका संताप सहनेको कहते हैं। जिसमें समस्त संसार तप्त तवेके समान हो जाता है, यावन्मात्र जीव व्याकुल हो जाते हैं जंगलके महाहिंसक पशु सिंह और हरिण व्याकुलताके कारण वैरभावको छोड़कर एक स्थानमें पड़े रहते हैं, जलाशयोंके जल सूख जाते हैं, गर्म लूकोंके (लूयें) चलनेसे वृक्ष कुम्हला जाते हैं, ऐसे प्रचण्ड ग्रीष्मकालमें मुनिजन पर्वतोंकी उच्च शिखरोंकी शिलाओंपर स्थित होते हैं और ज्ञानामृतकी शीतलतासे उष्ण वेदनाका शमन करते रहते हैं।

५–नग्नपरीषहजय—रेशम, ऊन, सूत, घास, वृक्ष, चर्मादिकके किसी प्रकारके वस्त्र न रखकर दशों दिशाओंके वस्त्र धारणकर भयंकर वनमें एकाकी नग्न रहनेको और कायसम्बन्धी विकारोंके न होने देनेको कहते हैं।

६–याचनापरीषहजय—किसीसे किसी भी प्रकारकी याचना न करनेको कहते हैं। याचनासे समस्त संसारी जीव दीन हो रहे हैं। महावैभव तथा ऋद्धिसम्पन्न इन्द्र भी अभिलाषावश रंक हो रहे हैं, परन्तु मुनि अयाचीक व्रतके धारण करनेवाले हैं। वे किसीसे भोजन धर्मोपकरणादि वस्त्र तो क्या तीर्थंकरदेवसे मोक्ष भी नहीं मांगते। इसीसे वे सर्वोत्कृष्ट हैं।

७–अरतिपरीषहजय—संसारके समस्त इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें संसारी जीव राग द्वेष मानते हैं। ऐसा न करके मन्दिर और वन, शत्रु और मित्र, कनक और पाषाण, सबमें समता भाव धारण करनेको तथा रति अरति रूप परिणाम न करनेको अरतिपरीषहजय कहते हैं।

८–अलाभपरीषहजय—अनेक उपवासोंके अनन्तर नगरमें भोजनार्थ जानेपर निर्दोष आहारादि न मिलनेसे खेदित न होनेको कहते हैं।

९–दंशमशकादिपरीषहजय—भयंकर वनमें नग्न शरीर पाकर नाना ऋतुके नानाप्रकारके डांस, मच्छर, पिपीलिका, मक्खी, कानखजूरे, सर्पादि जीव लिपट जाते हैं, उनकी व्यथासे खेदित न होकर ध्यानावस्थित रहनेको कहते हैं।

१०–आक्रोशपरीषहजय—मुनिकी महादुर्धर नग्न दिगम्बरावस्थाको देखकर दुष्ट जन नाना प्रकारके कुवचन कहते हैं। पाखंडी और ठग, निर्लज्ज आदि कहकर गालियां देते हैं। ऐसे समयमें किञ्चिन्मात्र भी क्रोधित न होकर महाक्षमा धारण करनेको कहते हैं।

११–रोगपरीषहजय—इन क्षणस्थायी शरीरमें उदरविकार, रक्तविकार, चर्मविकार, तथा वायु पित्त कफ जनित विकार आदि अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। उनके उत्पन्न होनेपर खेदित न होके तज्जनितपीड़ा सहन करते हुए स्वतः रोग शमनके उपाय न करनेको रोगपरिषहजय कहते हैं।

१२–मलपरीषहजय—संसारके जीवोंके शरीरमें पसीना आकर रंचमात्र भी रज बैठ जावे, तो वे खेद करते हैं और स्नानादि सुखनिमित्तक उपाय करते हैं, ऐसा न करके ग्रीष्मकी धूपसे प्रवाहित पसीनेपर अनन्त रज बैठ जानेपर अर्थात् शरीरके महा मलनि हो जानेपर भी स्नान विलेपनादि नहीं करके चित्त निर्मल रखनेको मलपरीषहजय कहते हैं। इस परीषहका जय करते समय मुनि चिन्तवन करते हैं, कि हे जीव ! यद्यपि यह शरीर इतना मलिन है, कि सारे समुद्रके जलसे धोया जावे तो भी पवित्र न होवे, परन्तु तू महा निर्मल अमूर्तिक शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, तुझसे मूर्तिक मलिन पदार्थोंका संसर्ग ही नहीं हो सकता, अतएव देह-स्नेह छोड़ करके आपमें स्थिर हो।

१३–तृणस्पर्शपरीषहजय—जगत्‌के जीव जरासी फाँसके लग जानेपर दुखी होते हैं, और उसके निकालनेका प्रयत्न करते हैं। ऐसा न करके तृण, कंटक, कंकर, फाँस, आदि शरीरमें चुभ जानेपर खेद-खिन्न न होनेको और उनके निकालनेका उपाय न करनेको तृणस्पर्शपरीषहजय कहते हैं!

१४–अज्ञानपरीषहजय—ज्ञानावरणीयकर्मके उदयसे चिरकाल तपश्चर्या करनेपर भी श्रुतज्ञान न होनेपर स्वतः खेद न करनेको और ऐसी अवस्थामें अन्य जनोंसे, अज्ञानी आदि मर्मभेदी वचन सुनकर दुःखित न होनेको अज्ञानपरीषहजय कहते हैं।

१५–अदर्शनपरीषहजय—संसारीजीव समस्त कार्य प्रयोजन रूप करते हैं और प्रयोजनमें थोड़ी सी भी न्यूनता देखनेपर क्लेशित होते हैं। ऐसा न करके बहुकाल उग्रतप करनेपर यदि किसी प्रकारके ऋद्धि, सिद्धि आदि प्रकट करनेवाले अतिशय प्रकट न हुए हों, तो संयमके फलमें रंचमात्र भी शंका न करके खेद-खिन्न न होकर अपने मार्गमें स्थित रहनेको और सम्यग्दर्शनको दूषित न करनेको अदर्शनपरीषहजय कहते हैं।

१६–प्रज्ञापरीषहजय—बुद्धिका पूर्ण विकास होनेपर किसी प्रकारके मान न करनेको कहते हैं।

१७–सत्कारपुरस्कारपरीषहजय—देव, मनुष्य, तिर्यञ्चादि सब ही जीव अपना आदर सत्कार चाहते हैं, आदर करनेवालेको अपना मित्र और न करनेवालेको शत्रु समझते हैं, ऐसा न करके सुरेन्द्रा-

दिक महर्द्धिक देवोंसे सत्कार करनेपर और अविवेकी क्षुद्र जीवोंसे तिरस्कृत होनेपर हर्ष विषाद न करके समान भाव धारण करनेको सत्कार पुरस्कार परीषहजय कहते हैं।

१८–शय्यापरीषहजय—खुरदरी, पथरीली काँटोंसे भरी हुई भूमिमें शयन करके दुखी न होनेको कहते हैं।

१९–चर्य्यापरीषहजय—किसी प्रकारकी सवारीकी इच्छा न करके मार्गके कष्टको न गिनकर भूमिशोधन करते हुए गमन करनेको कहते हैं।

२०–बधबंधनपरीषहजय—दुष्ट मनुष्योंद्वारा बधबंधनादि दुःख उपस्थित होनेपर उन्हें समता पूर्वक सहन करनेको कहते हैं।

२१–निषद्यापरीषहजय—निर्जन वनोंमें हिंसक जीवोंके निवास स्थानोंमें, व्यन्तरादि देवोंके स्थानोंमें, अंधकारयुक्त गुफाओंमें, और स्मशानभूमियोंमें रहकर भी दुःख न माननेको कहते हैं।

२२–स्त्रीपरीषहजय—महासुन्दर, स्त्रियोंकी हाव भाव भ्रूकटाक्षादि चेष्टाओंसे पीड़ित न होनेको कहते हैं।

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन ।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता ।। २०९ ।।

अन्वयार्थौ—[**इति**] इस प्रकार [**एतत्**] पूर्वोक्त [**रत्नत्रयम्**] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय [**विकलम्**] एकदेश [**अपि**] भी [**निरत्ययां**] अविनाशी [**मुक्तिम्**] मुक्तिको [**अभिलषता**] चाहनेवाले [**गृहस्थेन**] गृहस्थ के द्वारा [**अनिशं**] निरन्तर [**प्रतिसमयं**] समय समयपर [**परिपालनीयम्**] परिपालन करने योग्य है।

भावार्थ—इस मोक्ष प्रतिपादक ग्रन्थमें अभीतक सकल और विकलरूप दो प्रकारके रत्नत्रयका स्वरूप वर्णन किया गया है[1], अब कहते हैं, कि सकलरत्नत्रय मुनिका धर्म है, और विकलरत्नत्रय गृहस्थका धर्म है, परन्तु साक्षात् परम्पराकी अपेक्षा ये दोनों ही मोक्षके कारण हैं, बन्धके कारण नहीं हैं। इसलिये मोक्षाभिलाषी गृहस्थको सकल न सध सके, तो विकलरत्नत्रयका सेवन करना चाहिये।

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य ।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ।। २१० ।।

अन्वयार्थौ—[**च**] और यह विकलरत्नत्रय [**नित्यं**] निरन्तर [**बद्धोद्यमेन**] उद्यम करनेमें तत्पर ऐसे मोक्षाभिलाषी गृहस्थद्वारा [**बोधिलाभस्य**] रत्नत्रयके लाभके [**समयं**] समयको [**लब्ध्वा**] प्राप्त करके तथा [**मुनीनां**] मुनियोंके [**पदम्**] चरण [**अवलम्ब्य**] अवलम्बन करके [**सपदि**] शीघ्र ही [**परिपूर्णम्**] परिपूर्ण [**कर्त्तव्यं**] करने योग्य है।

भावार्थ-विवेकी जीव गृहस्थाचारमें रहकरके भी सांसारिक भोग-विलासोंसे विरक्त तथा

१–प्रथम तीस कारिकाओंमे दर्शन प्रकरण, फिर छह श्लोकोंमें ज्ञानाधिकार, एकसौ आठ आर्या छन्दोंमें देशचारित्र और पश्चात् बारह आर्या छन्दोंमें सकलचारित्रका स्तवन है। इसप्रकार २०८ कारिकाओंमें रत्नत्रयका स्वरूप वर्णित है।

मोक्षमार्गमें गमन करनेमें उद्यमवन्त कहते हैं, उन्हें चाहिये कि वैराग्य प्राप्तिका अवसर पाकर मुनिपद धारण कर लेवें, और पूर्वसाधित अपूर्ण रत्नत्रयको पूर्ण कर लेवें।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ।। २११ ।।

अन्वयार्थौ—[**असमग्रं**] असम्पूर्ण [**रत्नत्रयम्**] रत्नत्रयको [**भावयतः**] भावन करनेवाले पुरुषके [**यः**] जो [**कर्मबन्धः**] शुभकर्मका बंध [**अस्ति**] है, [**सः**] सो बंध [**विपक्षकृतः**] विपक्ष-कृत या बंधरागकृत[1] होनेसे [**अवश्यं**] अवश्य ही [**मोक्षोपायः**] मोक्षका उपाय है, [**बन्धनोपायः**] बंधका उपाय [**न**] नहीं।

भावार्थ—विकलरत्नत्रयमें शुभभावके प्रादुर्भावसे जो पुण्य प्रकृतिका बंध होता है, वह मिथ्यादृष्टिकी नाईं संसारका कारण नहीं है, किन्तु परम्परासे मोक्षका कारण है।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।। २१२ ।।
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।। २१३ ।।
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।। २१४ ।।

[त्रिभिर्विशेषकम्]

अन्वयार्थौ—[**अस्य**] इस आत्माके [**येनांशेन**] जिस अंशसे [**सुदृष्टिः**] सम्यग्दर्शन है, [**तेन**] उस [[**अंशेन**] अंशसे [**बन्धनं**] बन्ध [**नास्ति**] नहीं है, [**तु**] तथा [**येन**] जिस [**अंशेन**] अंशसे [**अस्य**] इसके [**रागः**] राग है, [**तेन**] उस [**अंशेन**] अंशसे [**बन्धनं**] बन्ध [**भवति**] होता है। [**येन**] जिस [**अंशेन**] अंशसे [**अस्य**] इसके [**ज्ञानं**] ज्ञान है, [**तेन**] उस [**अंशेन**] अंशसे] **बन्धनं**] बन्ध [**नास्ति**] नहीं है [**तु**] और [**येन**] जिस [**अंशेन**] अंशसे [**रागः**] राग है, [**तेन**] उस [**अंशेन**] अंशसे [**अस्य**] इसके [**बन्धनं**] बन्ध [**भवति**] होता है। [**येन**] जिस [**अंशेन**]अंशसे[**अस्य**] इसके [**चरित्रं**] चारित्र है, [**तेन**] उस [**अंशेन**] अंशसे [**बन्धनं**] बन्ध [**नास्ति**] नहीं है, [**तु**] तथा [**येन**] जिस [**अंशेन**] अंशसे [**रागः**] राग है, [**तेन**] उस [**अंशेन**] अंशसे [**अस्य**] इसके [**बन्धनं**] बन्ध [**भवति**] होता है।

१—रत्नत्रयकृत नहीं।

भावार्थ—आत्मविनिश्चयप्रकाशक आत्मपरिज्ञानसे आपके द्वारा आपमें ही स्थिर होना इसका नाम अभेद (सकल) रत्नत्रय है, फिर इस प्रकारकी बुद्धि परिणतिमें बंधका अवकाश कहाँ ? बंध तो तब होता है, जब इस परणतिसे विपरीत होकर परिणमन करता है। अर्थात् इससे यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ, कि जिन अंशोंसे यह आत्मा अपने स्वभावरूप परिणमन करता है, वे अंश सर्वथा बंधके हेतु नहीं हैं; किन्तु जिन अंशोंसे यह रागादि विभावरूप परिणमन करता है, वे ही अंश बंधके हेतु हैं।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात् ।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ।।२१५।।

अन्वयार्थौ—[**प्रदेशबन्धः**] प्रदेशबन्ध[1] [**योगात्**] मन, वचन, कायके व्यापारसे [**तु**] तथा [**स्थितिबन्धः**] स्थितिबन्ध[2] [**कषायात्**] क्रोधादिक कषयोंसे [**भवति**] होता है, परन्तु [**दर्शनबोधचरित्रं**] सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय [**न**] न तो [**योगरूपं**] योगरूप हैं [**च**] और न [**कषायरूपं**] कषायरूप ही हैं।

भावार्थ—संसारी आत्माकी मन, वचन, कायकी हलन-चलनरूप क्रियाको **योग**[3] कहते हैं। इस योगकी क्रियासे आस्रवपूर्वक प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है, और राग द्वेष भावोंकी परणतिको **कषाय** कहते हैं। इसके अनुसार स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध होता है। यथा—सयोगकेवलीके योगक्रिया से सातावेदनीका समयस्थायीबन्ध है, स्थितिबन्ध नहीं है। क्योंकि उनके कषायका सद्भाव नहीं है। अतएव सिद्ध हुआ कि योगकषाय ही बन्धके कारण हैं, सो रत्नत्रय न तो योगरूप ही है, और न कषायरूप ही है, फिर बन्धका कारण कैसे हो सकता है ?

ऊपर कह चुके हैं कि, जीवके प्रदेशोंमें हलन चलनरूप क्रियाविशेषको **योग** कहते हैं इन योगद्वारोंसे कर्मोंका **आस्रव** होता है, और पश्चात् कर्मके योग्य पुद्गलोंके ग्रहणसे जीव और कर्मपुद्गलोंके एकक्षेत्रवगाहरूप स्थित होनेको **बन्ध** कहते हैं। यह बंध चार प्रकारका है—**स्थितिबंध, अनुभागबन्ध, प्रकृतिबन्ध** और **प्रदेशबंध**। बन्धोंके उक्त भेदोभेद जाननेके पहिले हमको चाहिये, कि कर्मपुद्गलोंको जिनसे कि बन्ध होता है, अच्छी तरह जान लें। ये कर्म पुद्गल आठ प्रकारके हैं—**१ ज्ञानावरणी**[4], २ **दर्शनावरणी**, ३ **वेदनी**' ४ **मोहनी**, ५ **आयु**, ६ **नाम**, ७ **गोत्र** और ८ **अन्तराय**। ज्ञानावरणीकर्मका स्वभाव परदेके समान है। जिस प्रकार परदा पड़ जानेसे पदार्थको यथार्थ नहीं देखने देता, उसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्म पुद्गल आत्माके प्रदेशोंसे सम्बन्ध करके तत्त्वज्ञान नहीं होने देता। **दर्शनावरणीका** स्वभाव द्वारपालके समान है, अर्थात् जिस प्रकार द्वारपाल परका दर्शन नहीं होने देता, इसी प्रकार दर्शनावरणीकर्मपुद्गल आत्मासे सम्बन्ध करके आत्मा श्रद्धान नहीं करने देता, वेदनीका स्वभाव शहद लपेटी तीक्ष्ण असिधारके समान है, अर्थात् जैसे छुरी चाटनेसे मीठी लगती है, परन्तु अन्तमें जीभका

१—प्रदेशबन्धसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध दोनोंका ग्रहण किया है। २—स्थितिबन्धसे स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध दोनोंका ग्रहण किया है। ३—'कायवाङ्मनःकर्मयोगः' इति वचनात्।

४—इनमें से चार कर्मोंकी घातियाकर्म और आयु नामादि चारकी अघातियाकर्म संज्ञा है, क्योंकि घातियाकर्मोंका क्षय होचुकनेपर अघातियाकर्म बलहीन हो जाते हैं।

छेदन करती है, उसी प्रकार **वेदनीयकर्म** थोड़े समयके लिये साता दिखाकर अन्तमें असातासे पीड़ित रहता है। मोहनीयका स्वभाव मदिरा (शराब) के समान है, अर्थात् जिस प्रकार मदिरा जीवोंको असावधान कर देती है, उसी प्रकार **मोहनीयकर्म** आत्माको संसारमें पागल-सा बना देता है। आयुका स्वभाव खोड़ेके समान है, जैसे खोड़ेमें (काठमें) चोर आदिका पाँव अटका देते हैं, और जिस प्रकार काठके रहते चोर आदि निकल नहीं सकते, उसी प्रकार **आयुकर्म** के पूर्ण हुए विना नरकादिकसे नहीं निकल सकते। नामका स्वभाव चित्रकारके समान है अर्थात् जिस प्रकार चित्रकार नाना प्रकारके आकार बनाता है, उसी प्रकार **नामकर्म** आत्मासे सम्बन्ध करके नाना प्रकार मनुष्य तिर्यञ्चादि बनता है। गोत्रका स्वभाव कुम्भकारके समान है, अर्थात् जिस प्रकार कुम्भकार छोटे बड़े नाना प्रकार के बर्तन बनाता है, उसी प्रकार **गोत्रकर्म** उच्च नीच गोत्रोंमें उत्पन्न करता है, और अन्तिम **अन्तरायका** स्वभाव उस राजभंडारीके समान है, जो राजाके दिलानेपर भी किसीको दान नहीं देता, जैसे भंडारी भिक्षुकोंको लाभ नहीं होने देता, वैसे **अन्तरायकर्म** दान लाभादिमें अन्तराय डाल देता है।

आठों कर्मोंका स्वरूप भलीभाँति हृदयाङ्कित करके अब जानना चाहिये, कि कर्मोंका उपर्युक्त स्वभावके सहित जीवके सम्बन्ध होनेको **प्रकृतिबन्ध** कहते हैं। पृथक् पृथक् कर्मपरमाणुओंका पृथक् पृथक् मर्यादाको लिये स्थिति होनेको **स्थितिबन्ध** कहते हैं। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनी और अन्तराय कर्मोंकी स्थिति तीस कोड़ाकोड़ीसागरकी तथा मोहनीयके दो भेद दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, इनमेंसे दर्शनमोहनीय सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर तथा चारित्रमोहनीयकी चालीस कोड़ाकोड़ी सागरकी और नाम-गोत्रकर्मकी बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी और आयुकर्मकी तेतीस[1] सागरकी होती है। यह सम्पूर्ण कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाइ गई है, और जघन्य स्थिति अर्थात् कमसे कम मर्यादा वेदनीयकी बारह मुहूर्त तथा नाम, गोत्रकी आठ मुहूर्तकी है। अवशेष सबकी अन्तमुहूर्तकी है।

उपर्युक्त आठों कर्मोंके विपाक होनेको अर्थात् उदयमें आकार रस देनेको **अनुभागबन्ध** कहते हैं। यह विपाक **शुभविपाक** और **अशुभविपाक** ऐसे दो भेदरूप है। नीम, कांजी विष और हालाहल इन चारोंकी कटुता तथा गुड़, खांड़ मिश्री, अमृतकी मधुरता जिस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक है, उसी प्रकार **अशुभविपाकका** और **शुभविपाकका** रस भी उत्तरोत्तर अधिक होनेसे अनेक भेदरूप होता है।

आत्माके असंख्य प्रदेश हैं। इन असंख्य प्रदेशोंमेंसे एक एक प्रदेशपर अनन्तानन्त कर्मवर्गणाओं के अर्थात् बंधजीवके प्रदेशों, और पुद्गलके प्रदेशोंके एक क्षेत्रावगाही होकर स्थिर होनेको **प्रदेशबन्ध** कहते हैं। यह चारों प्रकारके बंधका संक्षित स्वरूप है। इन्हीं चारोंमेंसे **प्रकृतिबन्ध** तथा **प्रदेशबन्ध** योगोंसे और **स्थितिबन्ध** तथा **अनुभागबन्ध** कषायोंसे होता है।

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ।। २१६ ।।

१– तेतीस सागरसे अधिक आयु किसी भी जीवकी किसी भी गतिमें नहीं है।

अन्वयार्थौ— [**आत्मविनिश्चतिः**] अपनी आत्माका विनिश्चिय [**दर्शनम्**] सम्यग्दर्शन, [**आत्मपरिज्ञानम्**] आत्माका विशेष ज्ञान [**बोधः**] सम्यग्ज्ञान, और [**आत्मनि**] आत्मामें [**स्थितिः**] स्थिरता [**चारित्रं**] सम्यक्चारित्र [**इष्यते**] कहा गया है, तो फिर [**एतेभ्यः 'त्रिभ्यः'**] इन तीनोंसे [**कुतः**] कैसे [**बन्धः**] बंध [**भवति**] होता है।

भावार्थ—चेतनालक्षणयुक्त अनन्तगुणात्मक आत्माका, स्वतत्त्वविनिश्चियरूप चेतनापरिणाम सम्यग्दर्शन है, विनिश्चत आत्मा परिचयरूप चेतनापरिणाम सम्यग्ज्ञान है और उक्त परिचित आत्मामें निराकुल स्थिरतारूप चेतनापरिणाम सम्यक्चारित्र्य है। इस प्रकार अभेदरत्नत्रयी आत्मस्वभावसे बंध होनेकी संभावना कैसे की जा सकती है? नहीं की जाती। क्योंकि भिन्न वस्तुसे बंध होता है, अभेदरूपसे नहीं।

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्म्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थौ— [**अपि**] और [**तीर्थंकराहारकर्मणो**] तीर्थंकर प्रकृति और आहार प्रकृतिका [**यः**] जो [**बन्धः**] बन्ध [**सम्यक्त्वचरित्राभ्यां**] सम्यक्त्व और चारित्रसे [**समये**] आगममें [**उपदिष्टः**] कहा है, [**सः**] वह [**अपि**] भी [**नयविदां**] नयवेत्ताओंको [**दोषाय**] दोषके लिये [**न**] नहीं है।

भावार्थ—**तीर्थंकरप्रकृति**का बंध चतुर्थ गुणस्थानसे आठवें गुणस्थानके छट्ठे भागतक तीनों सम्यक्त्वोंसे होता है और **आहारप्रकृति**का बंध चारित्रसे होता है, यद्यपि ऐसा श्रुतकेवलीप्रणीत शास्त्रोंमें नियम है, तो भी नयविभागके ज्ञाता इस कथनको अविरुद्ध समझते हैं। क्योंकि **अभूतार्थनयकी अपेक्षा** तो सम्यक्त्व और चारित्र बंधके करनेवाले होते हैं, परन्तु **भूतार्थनयकी अपेक्षा** सम्यक्त्वचारित्र बंधके कर्त्ता नहीं होते। बंधके कर्त्ता पूर्वोक्त योग कषाय ही हैं। और भी :—

सम्यक्त्व दो प्रकारका है एक **सरागसम्यक्त्व** और दूसरा **वीतरागसम्यक्त्व**। सरागसम्यक्त्व किंचित् रागभावयुक्त और वीतरागसम्यक्त्व रागभावसे विमुक्त है, सुतरां तीर्थंकर व आहारकप्रकृतिका बंध सरागसम्यक्त्वमें राग भावके मेलसे होता है, वीतराग सम्यक्त्वमें नहीं।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थौ— [**यस्मिन्**] जिसमें [**सम्यक्त्वचरित्रे सति**] सम्यक्त्व और चारित्रके होते हुए [**तीर्थंकराहारबन्धकौ**] तीर्थंकर और आहारकप्रकृतिके बंध करनेवाले [**योगकषायौ**] योग और कषाय [**भवतः**] होते है, [**पुनः**] और [**असति, न**] नहीं होते हुए नहीं होते हैं, अर्थात् सम्यक्त्व चारित्रके विना बंधके कर्त्ता योग कषाय नहीं होते [**तत्**] वह सम्यक्त्व और चारित्र [**अस्मिन्**] इस बंधमें [**उदासीनम्**] उदासीन है।

भावार्थ—सम्यक्त्व और चारित्र विद्यमान योग-कषायोंसे तीर्थंकर और आहारक प्रकृतिके बंधक हैं, क्योंकि सम्यक्त्वचारित्रके विना यह बंध नहीं होता; परन्तु स्मरण रहे, कि सम्यक्त्व तथा चारित्र इस बंधके न तो कर्त्ता ही हैं, और न अकर्त्ता ही हैं, उदासीन हैं। जैसे महामुनियोंके समीपवर्ती जाति-विरोधी जीव अपना अपना वैर-भाव छोड़ देते हैं, परन्तु जानना चाहिये कि महामुनि इस वैरभाव त्यागरूप कार्यके न तो कर्त्ता ही हैं और न अकर्त्ता। कर्त्ता इस कारण नहीं हैं, कि वे योगारूढ़ उदासीन वृत्तिके धारक बाह्यकार्योंसे पराङ्मुख हैं। अकर्त्ता इस कारण नहीं हैं, कि यदि वे न होते, तो उक्त जीव वैर-विरोधके त्यागी भी नहीं होते, अतएव कर्त्ता अकर्त्ता न होकर उदासीन हैं, इसी प्रकार तीर्थंकर आहारकप्रकृतिबंधरूप कार्यमें सम्यक्त्वचारित्रको जानना चाहिये।

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः ।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ।।२१९।।

अन्वयार्थौ—[**ननु**] शंका-कोई पुरुष शंका करता है कि [**रत्नत्रयधारिणां**] रत्नत्रयधारी [**मुनिवराणाम्**] श्रेष्ठ मुनियोंके [**सकलजनसुप्रसिद्धः**] समस्त जनसमूहमें भलीभाँति प्रसिद्ध [**देवायुःप्रकृतिबन्धः**] देवायु आदिक उत्तम प्रकृतियोंका बन्ध [**एवं**] पूर्वोक्त प्रकारसे [**कथम्**] कैसे [**सिध्यति**] सिद्ध होगा ?

भावार्थ—रत्नत्रयधारी मुनियोंके देवायु आदिक पुण्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है, यह सब लोग अच्छी तरहसे जानते हैं, परन्तु अब आप जब रत्नत्रयको निर्बन्ध सिद्ध कर चुके हैं, तब यह बतलाइये के इनके बंधका कारण क्या कोई और हैं अथवा यही रत्नत्रय है ? शिष्यका यह प्रश्न है।

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ।।२२०।।

अन्वयार्थौ—[**इह**] इस लोकमें [**रत्नत्रयम्**] रत्नत्रयरूप धर्म [**निर्वाणस्य एव**] निर्वाणका ही [**हेतु**] हेतु [**भवति**] होता है. [**अन्यस्य**] अन्य गतिका [**न**] नहीं, [**तु**] और [**यत्**] जो रत्नत्रयमें [**पुण्यं आस्रवति**] पुण्यका आस्रव होता है, सो [**अयम्**] यह [**अपराधः**] अपराध [**शुभोपयोगः**] शुभोपयोगका है।

भावार्थ—पूर्व की आर्यामें किये हुए प्रश्नका उत्तर है कि गुणस्थानोंके अनुसार मुनिजनोंके जहाँ रत्नत्रयकी आराधना है, वहाँ देव, गुरु, शास्त्र, सेवा, भक्ति, दान, शील, उपवासादि रूप शुभोपयोगका भी अनुष्ठान है। यही शुभोपयोगका अनुष्ठान देवायु प्रमुख पुण्यप्रकृति बंधका कारण है, अर्थात् इस पुण्यप्रकृतिबन्धमें शुभोपयोगका अपराध है, रत्नत्रयका नहीं। सारांश—रत्नत्रय पुण्यप्रकृतिबन्धका भी कारण नहीं है।

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि ।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ।।२२१।।

अन्वयार्थौ—[**हि**] निश्चयकर [**एकस्मिन्**] एक वस्तुमें [**अत्यन्तविरुद्धकार्ययोः**] अत्यन्त विरोधी दो कार्यके [**अपि**] भी [**समवायात्**] मेलसे [**तादृशः अपि**] वैसा ही [**व्यवहारः**] व्यवहार [**रूढिम्**] रूढ़िको [**इतः**] प्राप्त है, [**यथा**] जैसे [**इह**] इस लोकमें "[**घृतम्**] घी [**दहति**] जलाता है" [**इति**] इस प्रकारकी कहावत है।

भावार्थ—जैसे अग्नि दाहकरूप कार्यमें कारण है, और घृत अदाहरूप कार्यमें कारण है परन्तु जब इन दोनों अत्यन्त विरोधी कार्योंका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है; तब कहा जाता है, कि इस पुरुषको घृतने जला दिया। इसी प्रकार शुभोपयोग पुण्यबंधरूप कार्यमें कारण है और रत्नत्रय मोक्षरूप कार्यमें कारण है, परन्तु जब गुणस्थानकी चढ़न परिपाटीमें दोनों एकत्र होते हैं, तब व्यवहारसे संसारमें कहा है कि रत्नत्रयसे बन्ध हुआ। यदि यथार्थमें रत्नत्रय बन्धका कारण मान लिया जावेगा तो मोक्षका सर्वथा अभाव ही हो जावेगा।

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ।।२२२।।

अन्वयार्थौ—[**इति**] इस प्रकार [**एषः**] यह पूर्वकथित [**मुख्योपचाररूपः**] निश्चय और व्यवहाररूप [**सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणः**] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षणवाला [**मोक्षमार्गः**] मोक्षका मार्ग [**पुरुषम्**] आत्माको [**परं पदं**] परमात्माका पद [**प्रापयति**] प्राप्त करता है।

भावार्थ—अष्टांग सम्यग्दर्शन, अष्टांग सम्यग्ज्ञान और मुनियोंके महाव्रतरूप आचरणको व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं, तथा अपने आत्मतत्त्वका परिज्ञान और आत्मतत्त्वमें ही निश्चल होनेको निश्चय रत्नत्रय कहते हैं। यह दोनों प्रकारका रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है। जिसमेंसे निश्चल रत्नत्रय समुदाय साक्षात् मोक्षमार्ग है, और व्यवहार रत्नत्रय परम्परा मोक्षमार्ग है। पथिकके (बटोहीके) उस मार्गको जिससे कि वह अपने अभीष्ट देशको क्रमसे स्थान स्थानपर ठहरके पहुँचता है, **परम्परामार्ग**, और जिससे अन्य किसी स्थानमें ठहरे विना सीधा ही इष्ट देशको पहुँचता है, उसे **साक्षात्मार्ग** कहते हैं।

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः ।।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ।।२२३।।

अन्वयार्थौ—[**नित्यम् अपि**] सदा ही [**निरुपलेपः**] कर्मरूपी रजके लेपसे रहित [**स्वरूपसमवस्थितः**] अपने अनन्त दर्शन ज्ञानस्वरूपमें भले प्रकार ठहरा हुआ [**निरुपघातः**] उपघातरहित[1] और [**विशदतमः**] अत्यन्त निर्मल [**परमपुरुषः**] परमात्मा [**गगनम् इव**] आकाशकी तरह [**परमपदे**] लोकशिखर स्थित मोक्षस्थानमें [**स्फुरति**] प्रकाशमान होता है।

१–स्वभावसे किसीके द्वारा घात नहीं किया जाता।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश रजयुक्त नहीं होता, सदा अपने स्वभावमें स्थित रहता है, किसके द्वारा घाता नहीं जा सकता और अत्यन्त निर्म्मल होता है, उसी प्रकार मुक्तात्मा अपनी निरावरण निरवसान अनन्त शक्तिसे विराजमान स्वभावप्राप्त होता है और अनन्तकाल तक रहता है।

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा[1]।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥ २२४ ॥

अन्वयार्थौ—[**कृतकृत्यः**] कृतकृत्य[2] [**सकलविषयविषयात्मा**] समस्त पदार्थ हैं विषयभूत जिनके अर्थात् सब पदार्थोंके ज्ञाता [**परमानन्दनिमग्नः**] विषयानन्दसे[3] रहित ज्ञानानन्दमें अतिशय मग्न [**ज्ञानमयः**] ज्ञानमय ज्योतिरूप [**परमात्मा**] मुक्तात्मा [**परमपदे**] सबसे ऊपर मोक्षपदमें [**सदैव**] निरन्तर ही [**नन्दति**] आनन्दरूप स्थित है।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥ २२५ ॥

अन्वयार्थौ—[**मन्थाननेत्रम्**] मथानीके नेताको [**गोपी इव**] बिलोवनेवाली ग्वालिनीकी तरह [**जैनी नीतिः**] जिनेन्द्रदेवकी स्याद्वादनीति या निश्चय व्यवहाररूप नीति [**वस्तुतत्त्वम्**] वस्तुके स्वरूपको [**एकेन**] एक सम्यग्दर्शनसे [**आकर्षन्ती**] अपनी ओर खींचती है, [**इतरेण**] दूसरे अर्थात् सम्यग्ज्ञानसे [**श्लथयन्ती**[4]] शिथिल करती है, और [**अन्तेन**] अन्तिम अर्थात् सम्यक्चारित्रसे सिद्धरूप कार्यके उत्पन्न करनेसे [**जयति**] सबके ऊपर वर्त्तती है।

भावार्थ—जिस प्रकार दहीको बिलोवनेवाली ग्वालिनी मथानीकी रस्सीको एक हाथसे खींचती है, दूसरेसे ढीली कर देती है, और दोनोंकी क्रियासे दहीसे मक्खन बनानेकी सिद्धि करती है, उसी प्रकार जिनवाणीरूप ग्वालिनी सम्यग्दर्शनसे तत्त्वस्वरूपको अपनी ओर खींचती है, सम्यग्ज्ञानसे पदार्थके भावको ग्रहण करती है, और दर्शन ज्ञानकी आचरणरूप क्रियासे अर्थात् सम्यक्चारित्रसे परमात्मपद प्राप्तिकी सिद्धि करती है। अथवा :—

अन्वयार्थौ—[**मन्थाननेत्रम्**] मथानीके नेताको [**गोपी इव**] ग्वालिनीके समान जो [**वस्तुतत्त्वम्**] वस्तुके स्वरूपकी [**एकेन अन्तेन**[5]] एक अन्तसे अर्थात् द्रव्यार्थिकनयसे [**आकर्षन्ती**] आकर्षण करती है अर्थात् खींचती है, और फिर [**इतरेण**] दूसरे पर्यायार्थिकनयसे [**श्लथयन्ती**] शिथिल करती है सो [**जैनी नीति**] जैनियोंकी न्यायपद्धति [**जयति**] जयवंती है।

१-सकलविषयविरतात्मा इत्यपिपाठः (सम्पूर्ण विषयोंसे विरक्त, ऐसा भी पाठ है।)

२-जो कुछ करना था सो कर चुके, अवशेष कर्तव्य कुछ नहीं।

३-संसारमें जो चक्रवर्ती, धरणेन्द्र, अहमिन्द्रादि परस्पर बहुत सुखी हैं सो विषयानन्दकी अपेक्षासे हैं, परन्तु मुक्तात्मा अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दसे सुखी है। ४-पक्षमें—शिथिल करती है। ५-"अन्त" शब्द पक्ष, सीमा, प्रान्त, अवसान आदि अनेक अर्थवाची है।

भावार्थ—जिस नयके कथनका प्रयोजन द्रव्यसे हो उसे द्रव्यार्थिक और जिसका प्रयोजन पर्य्यायसे ही हो उसे पर्य्यायार्थिक नय कहते हैं। इन दोनों नयोंसे ही वस्तुके यथार्थ स्वरूपका साधन होता है, अन्य मान्य न्यायोंसे वस्तुका साधन कदापि नहीं हो सकता। अब यहाँपर यह बतलानेके लिये, कि इन दोनोंसे जैनियोंकी नीति वस्तुस्वरूपका साधन किस तरह करती है, आचार्य्य महाराजने एक विलक्षण उदाहरण दिया है, कि जिस तरह ग्वालिनी मक्खन बनानेरूप कार्यकी सिद्धिकेलिये दहीमें मथानी चलाती है और उसकी रस्सीको जिस समय एक हाथसे अपनी ओर खींचती है, उस समय दूसरे हाथको शिथिल कर देती है और फिर जब दूसरे से अपनी ओर खींचती है, तब पहिलेको शिथिल करती है; एकके खींचनेपर दूसरेको सर्वथा छोड़ नहीं देती। इसी प्रकार जैनीनीति जब द्रव्यार्थिकनयसे वस्तुका ग्रहण करती है, तब पर्य्यायार्थिकनयकी अपेक्षा वस्तुमें उदासीन भाव धारण करती है, और जब पर्य्यायार्थिकनयसे ग्रहण करती है, तब द्रव्यार्थिककी अपेक्षा उदासीनता धारण करतीहै, जिस किसीको सर्वथा छोड़ नहीं देता और अन्तमें वस्तुके यथावत् स्वरूप कार्यकी सिद्धि करती है। जैनी जिस समय द्रव्यार्थिकको मुख्य मानके जीवका स्वरूप नित्य कहते हैं, उस समय पर्यायकी अपेक्षा उदासीन रूपसे अनित्य भी कहते हैं।

वर्णैः[1] **कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।**
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ।। २२६ ।।

अन्वयार्थौ—[**चित्रैः**] नाना प्रकारके [**वर्णैः**] अक्षरोंसे [**कृतानि**] किये हुए [**पदानि**] पद, [**पदैः**] पदोंसे [**कृतानि**] बनाये गये [**वाक्यानि**] वाक्य हैं, [**तु**] और [**वाक्यैः**] उन वाक्योंसे [**पुनः**] पश्चात् [**इदं**] यह [**पवित्रं**] पवित्र पूज्य [**शास्त्रम्**] शास्त्र [**कृतं**] बनाया गया है, [**अस्माभिः**] हमने [**न 'किमपि कृतं'**] कुछ भी नहीं किया।

भावार्थ—ग्रंथकर्त्ता आचार्य अपनी लघुता प्रकट करनेके लिये कहते हैं कि अकारादि सम्पूर्ण अक्षर पौद्‌गलिक हैं, अनादि निधन हैं. इन्हींका जब विभक्त्यन्त समुदाय होता है, तब पद कहलाता है, तथा अर्थके सम्बन्धपर्यन्त क्रियापूर्ण पदोंका समूह वाक्य कहलाताहै, और उन्हीं वाक्योंका वह एक समुदायरूप ग्रन्थ हो गया है। इसलिये इसमें मेरी कृति कुछ भी नहीं है, सब स्वाभाविक रचना है। शुभमस्तु।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिणां कृतिः पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं
नाम जिनप्रवचनरहस्यकोषः समाप्तः ।।

१—इसी भावका श्लोक—

वर्णाःपदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तॄणि न पुनर्वयम् ।। २३ ।।
—श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत **तत्त्वार्थसार**।

परिशिष्ट–१

पुरुषार्थसिद्ध्युपायके श्लोकोंकी वर्णानुक्रमणिका ।

अ	श्लोकांक पृष्ठांक		श्लो० पृष्ठांक
अक्रमकथनेन यतः	१८–१४	आमास्वपि पक्वास्वपि	६७–३७
अतिचारा सम्यक्त्वे	१८१–७८	आहारो हि सचित्तः	१९३–८३
अतिसंक्षेपाद् द्विविधः	११५–५२	**इ**	
अत्यन्तनिशितधारं	५९–३५	इति यः परिमितिभोगैः	१६६–७०
अथ निश्चित्तसचित्तौ	११७–५३	इति यो व्रतरक्षार्थं	१८०–७८
अनवेक्षिताप्रमार्जित	१९२–८३	इति यः षोडशयामान्	१५७–६५
अध्रुवमरणमेकत्व	२०५–८८	इतिरत्नत्रयमेतत्	२०९–९६
अनवरतमहिंसायां	२९–२०	इति नियमितदिग्भागे	१३८–५९
अनुसरतां पदमेतत्	१६–१३	इति विरतो बहुदेशात्	१४०–६०
अबुधस्य बोधनार्थं	६–५	इति विविधभङ्गगहने	५८–३४
अप्रादुर्भावः खलु	४४–२९	इत्थमशेषितहिंसः	१६०–६६
अभिमानभयजुगुप्सा	६४–३६	इत्यत्र त्रितयात्मनि	१३५–५८
अमृतत्वहेतुभूतं	७८–४०	इत्येतानतिचारापरानपि	१९६–८४
अरतिकरं भीतिकरं	९८–४६	इदमावश्यकषट्कं	२०१–८७
अर्कालोकेन विना	१३३–५७	इत्याश्रितसम्यक्त्वैः	३१–२१
अर्था नाम य एते प्राणा	१०३–४८	इयमेकैव समर्था	१७५–७३
अवबुध्य हिंस्यहिंसक	६०–३५	इह जन्मनि विभवादीन्य	२४–१८
अनशनमवमौदर्यं	१९८–८५	**उ**	
अवितीर्णस्य ग्रहणं	१०२–४७	उक्तेन ततो विधिना	१५६–६५
अविधायापि हि हिंसा	५१–३२	उपलब्धिसुगतिसाधन	८७–४३
अविरुद्धा अपि भोगा	१६४–६८	उभयपरिग्रहवर्जन	११८–५३
अष्टावनिष्टदुस्तर	७४–३९	**ऊ**	
असदपि हि वस्तुरूपं	९३–४५	ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्	१८८–८१
असमग्रं भावयतो	२११–९७	**ए**	
असमर्था ये कर्तुं	१०६–४९	एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्य	१६२–६७
असिधेनुहुताशन	१४४–६१	एकस्मिन् समवायाद	२२१–१०१
अस्ति पुरुषश्चिदात्मा	९–८	एकस्य सैव तीव्र	५३–३३
		एकस्याल्पा हिंसा	५२–३२
आ		एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती	२२५–१०३
आत्मपरिणामहिंसन	४२–२८	एकः करोति हिंसा	५५–३४
आत्मा प्रभावनीयो	३०–२१	एवं न विशेषः स्यादुन्दु	१२०–५३
आमां वा पक्वां वा	६८–३७	एवमतिव्याप्तिः स्यात्	११४–५२

	श्लो० पृष्ठांक
एवमयं कर्मकृतैर्भावै	१४–११
एवं विधमपरमपि ज्ञात्वा	१४७–६२
एवं सम्यग्दर्शनबोध	२०–१४
ऐ	
ऐहिकफलानपेक्षा	१६६–७१
क	
कर्त्तव्योऽध्यवसायः	३५–२५
कन्दर्पः कौत्कुच्यं	१६०–८२
कस्यापि दिशति हिंसा	५६–३४
कामक्रोधमदादिषु	२८–२०
कारणकार्यविधानं	३४–२४
किंवा बहुप्रलपितैरिति	१३४–५८
को नाम विशति मोहं	९०–४४
कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति	८६–४३
कृतकारितानुमननै	७६–३९
कृतकृत्यःपरमपदे	२२४–१०३
कृतमात्मार्थं मुनये	१७४–७२
ग	
गर्हितमवद्यसंयुत	९५–४६
गृतमागताय गुणिने	१७३–७२
ग्रन्थार्थोभयपूर्णं	३६–२५
च	
चारित्रान्तर्भावात् तपोपि	१९७–८५
चारित्रं भवति यतः	३९–२७
छ	
छेदनताडनबन्धा	१८३–८०
छेदनभेदनमारणकर्षण	९७–४६
ज	
जिनपुङ्गवप्रवचने	२००–८६
जीवकृतं परिणामं	१२–१०
जीवाजीवादीनां	२२–१५
जीवितमरणाशंसे	१९५–८४
त	
तज्जयति परं ज्योतिः	१–२
तत्त्वार्थश्रद्धाने निर्युक्तं	१२४–५५
तत्रादौ सम्यक्त्वं	२१–१४
तत्रापि च परिमाणं	१३९–५९

द	श्लो० पृष्ठांक
दर्शनमात्मविनिश्चिति	२१६–९९
द्वाविंशतिरप्येते	२०८–९३
दृष्टापरं पुरस्तादशनाय	८९–४४
ध	
धनलवपिपासितानां	८८–४३
धर्मध्यानासक्तो वासर	१५४–६४
धर्ममहिंसारूपं	७५–३९
धर्मः सेव्यः क्षान्ति	२०४–८८
धर्मोऽभिवर्धनीयः	२७–२०
धर्मो हि देवताभ्यः	८०–४१
न	
नवनीतं च त्याज्यं प्रमषति	१६३–६८
ननु कथमेवं सिद्धयति	२१९–१०१
न विन प्राणविघातान्	६५–३६
न हि सम्यग्व्यपदेशं	३८–२७
नातिव्याप्तिश्च तयोः	१०५–४८
निजशक्त्या शेषाणां	१२६–५५
नित्यमपि निरुपलेपः	२२३–१०२
निरतः कात्स्र्न्यनिवृत्तौ	४१–२८
निर्बाधं संसिध्येत्	१२२–५४
निश्चमबुध्यमानो	५०–३२
निश्चयमिह भूतार्थं	५–५
नीयन्तेऽत्र कषाया	१७९–७८
नैवं वासरभुक्ते भवति	१३२–५७
प	
परदातृव्यपदेशः	१९४–८३
परमागमस्य जीवं	२–३
परिणममानस्य चित	१३–११
परिणममानो नित्यं	१०–९
परिधय इव नगराणि	१३६–५८
पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो	१७१–७१
पापर्द्धिजयपराजय	१४१–६०
पुनरपि पूर्वकृताया	१९५–६९
पूज्यनिमित्त घाते	८१–४१
पैशुन्यहासगर्भं	९६–४६
पृथगाराधनमिष्टं	३२–२४
प्रविधाय सुप्रसिद्धै	१३७ ५८
प्रतिरूपव्यवहार	१८५–८०

	श्लो० पृष्ठांक
प्रविहाय च द्वितीयान्	१२५–५५
प्रागेव फलति हिंसा	५४–३३
प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा	१५५–६५
प्रेष्यस्य संप्रयोजन	१८९–८२
ब	
बद्धोद्यमेन नित्यं	२१०–९६
बहिरङ्गादपि सङ्गात्	१२७–५६
बहुशःसमस्तविरतिं	१७–१३
बहुसत्त्वघातजनिता	८२–४१
बहुसत्त्वघातिनोऽमी	८४–४२
बहुदुःखासंज्ञपिताः	८५–४२
भ	
भूखननवृक्षमोट्टन	१४३–६०
भोगोपभोगमूला	१६१–६७
भोगोपभोगसाधनमात्रं	१०१–४७
भोगोपहेतोः स्थावरहिंसा	१५८–६६
म	
मधु मद्यं नवनीतं	७१–३८
मधुशकलमपि प्रायो	६९–३७
मद्यं मांसं क्षौद्रं	६१–३५
मद्यं मोहयति मनो	६२–३५
मरणान्तेऽवश्यमहं	१७६–७४
मरणेऽवश्यं भाविनि	१७७–७४
माणवक एव सिंहो	७–६
माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे	१२३–५४
मिथ्यात्ववेदरागात्	११६–५२
मिथ्योपदेशदान	१८४–८०
मुख्योपचारविवरण	४–४
मुक्तसमस्तारम्भः	१५२–६४
मूर्छालक्षणकरणात्	११२–५१
य	
यत्खलुकषाययोगात्	३३–२८
यदपि किल भवति मांसं	६६–३६
यदपि क्रियते किञ्चिन	१०९–५०
यदिदं प्रमादयोगाद	९१–४४
यद्वेदरागयोगान्	१०७–४९
यद्येवं तर्हि दिवा	१३१–५७
यद्येव भवति तदा	११३–५१
यस्मात्सकषायः सन	४७–३०
यानि तु पुनर्भवेयुः	७३–३८
या मूर्च्छा नामेयं	१११–५१
युक्ताचरणस्य सतो	४५–२९
येनांशेन चरित्रं	२१४–९७
येनांशेन सुदृष्टिम्	२१२–९७
येनांशेन ज्ञानं	२१३–९७
ये निजकलत्रमात्रं	११०–५०
योगात्प्रदेशबन्धः	२१५–९८
योनिरुदुम्बरयुग्मं	७२–३८
योऽपि न शक्यस्त्यक्तु	१२८–५६
यो यतिधर्ममकथयन्नु	१८–१३
यो हि कषायाविष्टः	१७८–७४
र	
रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाण	२२०–१०१
रजनीदिनयोरन्ते	१४९–६२
रसजानां च बहूनां	६३–३६
रक्षा भवति बहूनामेक	८३–४२
रागद्वेषत्यागन्निखिल	१४८–६२
रागद्वेषासंयममद	१७०–७२
रागादिवर्द्धनानां	१४५–६१
रागाद्युदयपरत्वाद्	१३०–५६
रात्रौ भुञ्जानानां	१२९–५६
ल	
लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य	३–३
लोकशास्त्राभासे	२६–१९
व	
वचनमनःकायानां	१९१–८२
वर्णैः कृतानि चित्रैः	२२६–१०४
वस्तु सदपि स्वरूपात्	९४–४५
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न	१५६–६६
वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्य	१८७–८१
विगलितदर्शनमोहैः	३७–२६
विद्यावाणिज्यमषीकृषि	१४२–६०
विधिना दातृगुणवता	१६७–७०
विनयो वैयावृत्त्यं	१९९–८६
विपरताभिनिवेशं निरस्य	१५–१२
व्यवहारनिश्चयौ यः	८–७
व्युत्थानावस्थायां	४६–३०

	श्लो० पृष्ठांक
श	
शङ्का तथैव काङ्क्षा	१८२–७६
श्रित्वा विविक्तवसतिं	१५३–६४
स	
सकलमनेकान्तात्मक	२३–१८
सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स	११–१०
सति सम्यक्त्वचरित्रे	२१८–१००
सम्यक्त्वचारित्राभ्यां	२१७–१००
सम्यक्त्वबोधचारित्र	२२२–१०२
सम्यग्गमनागमनं	२०३–८७
सम्यग्दण्डो वपुषः	२०२–८७
सम्यग्ज्ञानं कार्यं	३३–२४
सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्	९९–४६
सर्वानर्थप्रथमं मथनं	१४६–६१
सामायिकश्रितानां	१५०–६३
सामायिकसंस्कारं	१५१–६३
सूक्ष्मापि न खलु हिंसा	४९–३१
सूक्ष्मो भगवद्धर्मो	७९–४०

	श्लो० पृष्ठांक
संग्रहमुच्चस्थानं पदोदक	१६८–७०
स्तोकैकेन्द्रियघाताद्	७७–३९
स्पर्शश्च तृणादीनाम	२०७–९३
स्मरतीव्राभिनिवेशो	१८६–८१
स्वक्षेत्रकालभावैःसदपि	९२–४५
स्वयमेव विगलितं यो	७०–३७
ह	
हरितृणाङ्कुरचारिणि	१२१–५४
हिंसातोऽनृतवचनात्	४०–२८
हिंसापर्यायत्वात्	११९–५३
हिंसाफलपरस्य तु	५७–३४
हिंसायामविरमण	४८–३१
हिंसायाः पर्यायी	१७२–७२
हिंसायाः स्तेयस्य च	१०४–४८
हिंस्यन्ते तिलनाल्यां	१०८–५०
हेतौ प्रमत्तयोगे	१००–४७
क्ष	
क्षुत्तृष्णाशीतोष्ण	२५–९९
क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं	२०६–९२

परिशिष्ट-२

पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी टीका और टिप्पणीमें उद्धृत गाथाओं, श्लोकों, सूत्रों और दोहोंकी वर्णानुक्रमणिका।

अ	पृष्ठांक
जइ जिणमयं पवज्जह— पं० आशाधरकृत अनगारधर्मामृत-टीका	७
अतिक्रमो मानसशुद्धहानि—	७६
अद्य दिवा रजनी वा—स्वामिसमंतभद्र—	६६
अनशनावमौदर्य—उमास्वामि	८५
अप्पाणं पि चवंतं—स्वमिकार्तिकेय	८६
अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितो—उमास्वामि	८३
अह णीरोओ देहो तो—स्वामिकार्तिकेय	६०
अज्ञानतिमिरव्याप्ति—स्वामिसमंतभद्र	२१
आ	
आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्द	८२
इ	
इदमेवेदृशमेव—स्वामिसमंतभद्र	६८
ईर्याभाषैषणा उमास्वामि	८७
उ	
उत्तमक्षमामार्दवार्जव-उमास्वामि	८८
ऊ	
ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-उमास्वामि	८१
क	
कन्दर्पकौत्कुच्च-उमास्वामि	८२
कर्मपरवशे सान्ते-स्वामिसमंतभद्र	६८
कस्सवि णत्थि कलत्तं-स्वामिकार्तिकेय	६०
कस्य त्रि दुट्ठु कलत्तं-स्वामिकार्तिकेय	६०
कापथे पथिदुःखानां-स्वामिसमंतभद्र	६६
कोऊ नयनिश्चयसे-पं० टोडरमल	१
ग	
गुरु उर भाषै आप पर-पं० टोडरमल	१

ज	पृष्ठांक
जीवितमरणाशंसा-उमास्वामि	८४
द	
दत्ते दयेऽर्थनिचये-सोमदेवसूरि	८६
दर्शनाच्चरणाद्वापि-स्वामिसमंतभद्र	२०
प	
परमपुरुष निज अर्थको-पं० टोडरमल	१
परविवाहकरणेत्वरिका-उमास्वामि	८१
पुत्तो त्रि भाओ जाओ-स्वामिकार्तिकेय	८६
पुंश्चलीवेश्यादासीनां गमने— स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका	८१
प्रायश्चित्तविनय-उमास्वामि	८६
न	
न च परदारान् गच्छति—स्वामिसमंतभद्र	५०
नियमो यमश्च विहितौ—स्वामिसमंतभद्र	६६
निशा षोडश नारीणां—	६६
निहितं वा पतितं वा—स्वामिसमंतभद्र	४८
ब	
बन्धवधच्छेदाति—उमास्वामि	८०
भ	
भूपयः पवनाग्नीनां—सोमदेवसूरि	६१
भोजनवाहनशयन....स्वामिसमंतभद्र	६६
भोजने षट्रसे पाने—	६६
म	
मधुशकलमपि प्रायो	३८
मण-वयण कायजोया—स्वामिकार्त्तिकेय	६१
मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यान—उमास्वामि	८०
मैं नमो नगन जैन जिन—पं० टोडरमल	१

य　　पृष्ठांक

योग्यकालासनस्थान—　६३

योगदु:प्रणिधानाना—उमास्वामि　८२

व

वर्णा:पदानां कर्तारो—अमृतचन्द्रसूरि　१०४

वानी विन बैन न बने—पं० टोडरमल　२

श

श्रीगुरु परमदयाल है—पं० टोडरमल　१

स

सप्पुरिसाणं दाणं—कुन्दकुन्दाचार्य　७२

सयल कुह्रियाण पिंडं—स्वामिकार्तिकेय　६१

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति—उमास्वामि　८७

पृष्ठांक

सचित्तनिक्षेपापिधान—उमास्वामि　८३

सचित्तसंबन्धसन्मिश्रा—उमास्वामि　८३

सुक्कं पक्कं तत्तं—स्वामिकार्त्तिकेय　६५

सीहस्स कमे पडिदं—स्वामिकार्तिकेय　८६

स्यादृग्बोध चरित्ररत्ननिचयं—　८६

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भाव—स्वामिसमन्तभद्र　२०

स्तेनप्रयोगतदाहृतादान—उमास्वामि　८०

स्वभावतोऽशुचौ काये—स्वामिसमंतभद्र　१६

स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य—स्वामिसमंतभद्र　२०

क्ष

क्षुत्पिपासाशीतोष्ण—उमास्वामि—　६२

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्ण—,,

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास द्वारा संचालित

परमश्रुतप्रभावक-मण्डल (श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला) के

प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

(१) गोम्मटसार-जीवकाण्ड :

श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत मूल गाथायें, श्रीब्रह्मचारी प. खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री-कृत नयी हिन्दीटीका युक्त। अबकी बार पंडितजीने धवल, जयधवल, महाधवल और बड़ी संस्कृतटीका के आधारसे विस्तृत टीका लिखी है। मूल्य-नौ रुपये।

(२) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा :

स्वामिकार्त्तिकेयकृत मूल गाथायें, श्री शुभचन्द्रकृत बड़ी संस्कृतटीका, स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके प्रधानाध्यापक, पं. कैलासचन्द्रजी शास्त्रीकृत हिन्दीटीका। अंग्रेजी प्रस्तावनायुक्त। सम्पादक-डा. आ ने. उपाध्ये, कोल्हापुर। मूल्य-चौदह रुपये।

(३) परमात्मप्रकाश और योगसार :

श्रीयोगीन्दुदेवकृत मूल अपभ्रंश-दोहे, श्रीब्रह्मदेवकृत संस्कृत-टीका व पं. दौलतरामजीकृत हिन्दी-टीका। विस्तृत अंग्रेजी प्रस्तावना और उसके हिन्दीसार सहित। महान अध्यात्मग्रन्थ। डा. आ. ने. उपाध्येका अमूल्य सम्पादन। नवीन संस्करण। मूल्य-बारह रुपये

(४) ज्ञानार्णव :

श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत महान योगशास्त्र। सुजानगढ़निवासी पं. पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दी अनुवाद सहित। मूल्य-बारह रुपये

(५) प्रवचनसार :

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित ग्रन्थरत्नपर श्रीमदमृतचन्द्राचार्यकृत तत्त्वप्रदीपिका एवं श्रीमज्जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीकायें तथा पांडे हेमराजजी रचित बालाव-बोधिनी भाषाटीका। डा. आ. ने. उपाध्येकृत अध्ययनपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद और विशद प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक सम्पादन। मूल्य-पन्द्रह रुपये।

(६) बृहद्द्रव्यसंग्रह :

आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धांतिदेवविरचित मूल गाथा, श्रीब्रह्मदेवविनिर्मित संस्कृतवृत्ति और पं. जवाहरलालशास्त्रीप्रणीत हिन्दी-भाषानुवाद सहित। षड्द्रव्यसप्ततत्त्वस्वरूपवर्णनात्मक उत्तम ग्रन्थ। मूल्य-पांच रुपये पचास पैसे।

(७) पुरुषार्थसिद्धयुपाय :

श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत मूल श्लोक। पं. टोडरमल्लजी तथा पं. दौलतरामजीकी टीकाके

आधार पर स्व. पं. नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित नवीन हिन्दी टीका सहित। श्रावक-मुनि-धर्मका चित्तस्पर्शी अद्भुत वर्णन।

(८) अध्यात्म राजचन्द्र :

श्रीमद् राजचन्द्रके अद्भुत जोवन तथा साहित्यका शोध एवं अनुभवपूर्ण विवेचन डा. भगवानदास मनसुखभाई महेताने गुर्जरभाषामें किया है। मूल्य–सात रुपये।

(९) पंचास्तिकाय :

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित अनुपम ग्रन्थराज। आ अमृतचन्द्रसूरिकृत 'समयव्याख्या' एवं आचार्य जयसेनकृत 'तात्पर्यवृत्ति'—नामक संस्कृत टीकाओंसे अलंकृत और पांडे हेमराजजी-रचित बालावबोधिनी भाषा-टीकाके आधार पर पं. पन्नालालली बाकलीवालकृत प्रचलित हिन्दी अनुवाद सहित। मूल्य–सात रुपये।

(१०) अष्टप्राभृत :

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित मूल गाथाओं पर श्रीरावजीभाई देसाई द्वारा गुजराती गद्य-पद्यात्मक भाषांतर। मोक्षमार्गकी अनुपम भेंट। मूल्य–दो रुपये मात्र

(११) भावनाबोध–मोक्षमाला :

श्रीमद् राजचन्द्रकृत। वैराग्यभावना सहित जैनधर्मका यथार्थ स्वरूप दिखाने वाले १०८ सुन्दर पाठ हैं। मूल्य–दो रुपये पचास पैसे।

(१२) स्याद्वाद मजरी :

श्रीमल्लिषेणसूरिकृत मूल और श्रीजगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम. ए., पी.-एच. डी. कृत हिन्दी-अनुवाद सहित। न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। बड़ी खोजसे लिखे गये १६ परिशिष्ट हैं। मूल्य–दस रुपये।

(१३) गोम्मटसार–कर्मकाण्ड :

श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत मूल गाथाएं, स्व. पं. मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दीटीका। जैनसिद्धान्त-ग्रन्थ है। मूल्य–सात रुपये।

(१३) इष्टोपदेश :

श्रीपूज्यपाद. देवनन्दिआचार्यकृत मूल श्लोक, पंडितप्रवर आशाधरकृत संस्कृतटीका, पं. धन्यकुमारजी जैनदर्शनाचार्य एम. ए. कृत हिन्टीटीका, स्व. बैरिस्टर चम्पतरायजीकृत अंग्रेजीटीका तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा रचित हिन्दी, मराठी, गुजराती एवं अंग्रेजी पद्यानुवादों सहित भाववाही आध्यात्मिक रचना। मूल्य–दो रुपये पचास पैसे।

(१५) समयसार :

आचार्य श्रीकुन्दकुन्दस्वामी-विरचित महान अध्यात्मग्रन्थ, तीन टीकाओं सहित नयी आवृत्ति। मूल्य–सोलह रुपये।

(१६) लब्धिसार (क्षपणासारगर्भित) :

श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती-रचित करणानुयोग ग्रन्थ। पं. प्रवर टोडरमल्लजी कृत बड़ी टीका सहित पुनः छप रहा है।

(१७) द्रव्यानुयोगतर्कणा :

श्रीभोजसागरकृत, अप्रा८८ है। सुन्दर सम्पादन सहित पुनः छप रहा है।

(१८) न्यायावतार :

महान् तार्किक श्री सिद्धसेनदिवाकरकृत मूल श्लोक, व श्रीसिद्धर्षिगणिकी संस्कृत टीकाका हिन्दी-भाषानुवाद जैनदर्शनाचार्य पं. विजयमूर्ति एम. ए. ने किया है : न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है।
मूल्य-छः रुपये।

(१९) प्रशमरतिप्रकरण :

आचार्य श्रीमदुमास्वातिविरचित मूल श्लोक, श्रीहरिभद्रसूरिकृत संस्कृत टीका और पं. राजकुमारजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित सरल अर्थ सहित। वैराग्यका बहुत सुन्दर ग्रन्थ है।
मूल्य-छः रुपये।

(२०) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (मोक्षशास्त्र) :

श्रीमत् उमास्वातिकृत मूल सूत्र और स्वोपज्ञभाष्य तथा पं. खूबचन्दजी सिद्धांतशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका। तत्त्वोंका हृदयग्राह्य गम्भीर विश्लेषण।
मूल्य-छः रुपये।

(२१) सप्तभंगीतरंगिणी :

श्रीविमलदासकृत मूल और स्व. पडित ठाकुरप्रसादजी शर्मा व्याकरणाचार्यकृत भाषाटीका। न्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। पुनः छप रहा है।
मूल्य-छः रुपये।

(२२) इष्टोपदेश :

मात्र अंग्रेजी टीका व पद्यानुवाद। मूल्य-पचहत्तर पैसे।

(२३) परमात्मप्रकाश :

मात्र अंग्रेजी प्रस्तावना व मूल गाथायें। मूल्य-दो रुपये।

(१४) योगसार :

मूल गाथायें और हिन्दीसार। मूल्य-पहचत्तर पैसे।

(२५) कार्तिकेयानुप्रेक्षा :

मात्र मूल, पाठान्तर और अंग्रेजी प्रस्तावना। मूल्य-दो रुपये पचास पैसे।

(२६) प्रवचनसार :

अंग्रेजी प्रस्तावना, प्राकृत मूल, अंग्रेजी अनुवाद तथा पाठान्तर सहित। मूल्य-पांच रुपये।

(२७) उपदेशछाया आत्मसिद्धि :

श्रीमद् राजचंद्रप्रणीत । अप्राप्य ।

(२८) श्रीमद् राजचन्द्र :

श्रीमद्के पत्रों व रचनाओंका अपूर्व संग्रह । तत्त्वज्ञानपूर्ण महान् ग्रन्थ है । म० गांधीजी की महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना ।

अधिक मूल्यके ग्रन्थ मंगानेवालोंको कमिशन दिया जायेगा । इसके लिए वे हमसे पत्रव्यवहार करें ।
मूल्य-बाईस रुपये ।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रमकी ओरसे

प्रकाशित गुजराती ग्रंथ

१. श्रीमद् राजचन्द्र २. अध्यात्म राजचन्द्र ३. श्रीसमयसार (संक्षिप्त) ४. समाधि सोपान (रत्नकरण्ड श्रावकाचारके विशिष्ट स्थलोंका अनुवाद) ५. भावनाबोध-मोक्षमाला ६. परमात्म-प्रकाश ७. तत्त्वज्ञान तरंगिणी ८. धर्मामृत ९ स्वाध्याय सुधा १०. सहजसुखसाधन ११. तत्त्वज्ञान १२. श्रीसद्गुरुप्रसाद १३. श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला १४. सुबोध संग्रह १५. नित्यनियमादि पाठ १६. पूजा संचय १७. आठ दृष्टिनी सज्झाय १८. आलोचनादि पद-संग्रह १९. पत्रशतक २०. चैत्यवंदन चोबीसी २१. नित्यक्रम २२. श्रीमद् राजचन्द्र जन्मशताब्दी महोत्सव-स्मरणांजलि २३. श्रीमद् लघुराज स्वामि (प्रभुश्री) उपदेशामृत २४. आत्मसिद्धि शास्त्र २५. नित्यनियमादि पाठ (हिन्दी) २६. Shrimad Rajchandra, A Great Seer २७. Mokshamala २८. सुवर्ण-महोत्सव-आश्रम परिचय २९. ज्ञानमंजरी ३०. अनित्यपंचाशत् तथा हृदय प्रदीप ३१ अध्यात्म-रसतरंग ३२. आत्मानुशासन ।

आश्रमके गुजराती प्रकाशनोंका पृथक् सूचीपत्र मंगाइये । सभी ग्रन्थों पर डाकखर्च अलग रहेगा ।

प्राप्तिस्थान :

१. श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, स्टेशन-अगास
पो. बोरिया, वाया-आणंद [गुजरात]

२. परमश्रुतप्रभावक-मंडल
[श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला]
चौकसी चेम्बर, खाराकुंवा, जौहरी बाजार, बम्बई-२